गीता-माहात्म्य

[५]

गीतायाः पंचमाध्यायं सर्वं सौख्य फलप्रदम् ।
ये पठन्ति नरा भक्त्या ते तरन्ति भवाब्धिकम् ॥*

(प्र० द० अ०)

छप्पय

अब पंचम अध्याय महातम तुम्हें सुनाऊँ।
पिंगल खल मद्रीय कथा ताकी समुझाऊँ॥
द्विजपन तजि नित नृत्य करै पर नारी लंपट।
ताकी कुलटा नारि ताहि ताड़ै नित ही शठ॥
निशि पिंगल कूँ मारिकें, स्वयं मरी शुग्गी भई।
गिद्ध भयो पिंगल अधम, शुकी तासु सम्मुख गई॥

---

* गीता का पंचम अध्याय सभी प्रकार के सुखों को देने वाला है जो पुरुष इसे भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं, वे इस संसार रूप सागर को तर जाते हैं।

जैसा मनुष्य का स्वभाव होता है, उसके गुण उसके प्रत्येक अंग में व्याप्त हो जाते हैं। पुण्यात्माओं की अस्थियाँ भी पावन बन जाती हैं और पापियों के मृतक शरीर के मांस को काक गृद्ध तथा सियार कुत्ता तक नहीं खाते। पाप पुण्य के संस्कार शरीर की सब धातुओं में बिंध जाते हैं। तभी तो पुण्यात्मा प्राणी किसी तनिक से पाप के कारण नरक दर्शन के निमित्त जाते हैं, तो उनके अंग की सुगन्धि के कारण नरक में रहने वाले प्राणी परम प्रमुदित हो जाते हैं। एक स्थान पर एक पुण्यात्मा ऋषि की अस्थियाँ पड़ी हुई थीं। उनके ऊपर से चित्ररथ गन्धर्व अपनी स्त्रियों सहित विमान से जा रहा था। अस्थियों का अनजान में भी अपमान करने के कारण चित्ररथ गन्धर्व नीचा सिर किये हुए विमान से गिर पड़ा। अस्थियों का ऐसा प्रभाव देखकर चित्ररथ परम विस्मित हुआ। फिर उन्हें श्रद्धापूर्वक ले जाकर श्री गंगा जी में प्रवाहित कर आया।

ये सब तो प्राचीन कथायें हैं। आधुनिक काल में भी इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण मिले हैं। समुद्र पार के आंग्ल प्रदेश में एक बड़ा भारी नामी चित्रकार रहता था। उसके चित्रों की दूर-दूर तक ख्याति थी। महान् चित्रकार होने के साथ ही साथ वह परम सदाचारी, सत्यवादी तथा परोपकार परायण व्यक्ति था। किसी दुर्घटना में उसके दायें हाथ का पूरा पंजा कट गया। उसके मित्र एक सुप्रसिद्ध चिकित्सक ने एक तत्काल मृतक पुरुष के हाथ को काटकर उसके हाथ में जोड़ दिया। हाथ जुड़ गया और सब काम ठीक-ठीक करने लगा। यह नया लगा हाथ बोझ उठा लेता, भोजन ठीक-ठीक करा देता, किन्तु यह चित्र नहीं बना सकता था। जब से यह नवीन हाथ लगा, तब से

उसकी एक बड़ी बुरी आदत पड़ गयी। इस चित्रकार की बिन इच्छा के भी यह हाथ समीप के बैठे पुरुष की जेब में से अनेक वस्तुओं को चुरा लेता। दूसरों की जेबों को सफा कर देता।

इससे इस चित्रकार को महान् आत्मग्लानि रहने लगी। वह नहीं चाहता था, फिर भी वह हाथ अपने आप दूसरों की जेबों को सफा करने लगा। अपनी मनोव्यथा को वह दूसरों के सम्मुख व्यक्त करने में भी असमर्थ था। एक दिन उसने अत्यन्त आत्म ग्लानि के कारण आत्महत्या करली। उसके चिकित्सक मित्र ने जब यह वृत्तान्त सुना तो वह दौड़ा-दौड़ा उसके समीप गया। मरते समय अपनी आत्महत्या का कारण बताते हुए उसने अन्तिम पत्र में अपनी सब व्यथा लिख दी।

चिकित्सक ने दूरभाष यन्त्र द्वारा पुलिस से उस व्यक्ति के सम्बन्ध में पूछताछ की जिसका हाथ काटकर इसकी बाँह में लगाया गया था। अनुसन्धान के पश्चात् विदित हुआ कि जिस व्यक्ति का मृतक हाथ काटकर चित्रकार के लगाया गया था, वह एक नामी जेबकतर था। रेल से कटकर उसकी मृत्यु हुई थी।

जब मृतक हाथ में भी जीवित व्यक्ति की आदत आ सकती है, तो जीवित आदमियों के सद्गुण या दुर्गुण आ जाना कौन सी आश्चर्य की बात है। यह जीव संस्कारों के द्वारा प्रेरित होकर कर्म करता है। भाग्यवश किसी भी प्रकार इसे सत्कर्म करने वाले संत का समागम हो जाय, तो बेड़ापार ही है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भगवद् गीता के पंचम अध्याय का महात्म्य सुनाता हूँ। जैसे शिव जी ने पार्वती

जी के पूछने पर तथा विष्णु भगवान् ने लक्ष्मी जी के पूछने पर सुनाया था।

लक्ष्मी जी कहा—"प्राणनाथ ! मैंने आपके श्री मुख से श्री मद्भगवत् गीता के चतुर्थ अध्याय का तो महात्म्य सुन लिया, अब पंचम अध्याय के महात्म्य को और सुनने की इच्छा है। कृपा कर आप मुझे और सुना दें।"

तब भगवान् विष्णु जी कहने लगे—'प्रिये ! अब तुम सावधान होकर गीता के पांचवे अध्याय का माहात्म्य श्रवण करो। मद्रदेश में प्राचीन काल में पुरुकुत्सपुर नामक एक समृद्धशाली नगर था। उसमें पिङ्गल नाम का एक कुलीन ब्राह्मण रहता था। उसका कुल परम पवित्र था, उसके पूर्वज प्रख्यात विद्वान वेदपाठी तथा विख्यात वंश के थे। उसके कुल में कोई सदाचार हीन पुरुप नहीं हुआ था, जिससे उसका वंश परम पावन तथा निष्कलंक माना जाता था। ऐसे कुलीन पावन कुल में यही एक पिंगल दुराचारी तथा पतित पैदा हुआ। इसने कुलागत वेद-शास्त्रों के स्वाध्याय आदि सत्कर्मों का परित्याग करके नाचने गाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। वह भांति-भांति के नृत्य दिखाकर तथा बाजे बजाकर विषयी लोगों का मन विनोद करने लगा। उसने वेश्याओं जैसी वृत्ति अपना ली। नृत्य, गीत तथा विविध वाद्यों में उसने परिश्रम करके बहुत ख्याति प्राप्त करली। कामी स्त्री-पुरुष उसका आदर करने लगे। वह भी उन्हें रिझाने में अपनी कलाकारी का पूरा प्रदर्शन करने लगा।

राज दरबारों में तो नट, भट, चुगलखोर, लंपट, तथा नाचने

गाने बजाने वालों का आदर होता ही इसका भी प्रवेश राज-भवन में हो गया। वह राजा को अपनी कलाओं द्वारा रिझाता और उससे पारितोषिक पाता। द्रव्य के द्वारा उसने खोटे स्वभाव की स्वैरिणी स्त्रियों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया और यह पूरी तरह से कामिनी लंपट बन गया। राजा का प्रियपात्र बनने के लिये यह एकान्त में राजा से दूसरों की बुराई करने लगा। कभी किसी की बुराई करता, कभी किसी से रुपये ठगता।

पिङ्गल ने एक स्त्री को भी रख रखा था। उसका नाम अरुणा था, वह पर पुरुषों से प्रेम करने वाली बड़ी कुटिला थी, उसका जन्म नीच कुल में हुआ था। देखने में वह सुन्दरी थी, किन्तु उसका हृदय अत्यन्त कलुषित था। वह अपने पति की अपेक्षा पर पुरुषों से अत्यधिक प्रेम करती थी। उसके एक प्रेमी ने उससे कहा—"देखो, हमारे तुम्हारे प्रेम के बीच में यह पिंगल ही एक महान् कंटक है। इसे किसी प्रकार मृत्यु के घाट उतारो। जब यह न रहेगा, तो हम दोनों आनन्द के साथ समय यापन करेंगे।"

उसकी बात मानकर एक दिन आधी रात्रि के समय पिंगल की स्त्री अरुणा ने अपने पति को घर के भीतर बन्द करके, उसका सिर धड़ से काट लिया और अपने प्रेमी की सहायता से उसके मृतक शरीर को भूमि में गड़वा दिया। वह पापी मरकर यमराज के यहाँ पहुँचा। यमराज ने उसके पापों के अनुसार उसे नाना नरकों की यातनाओं में पचाया। जब कुछ पाप शेष रह गये तब एक घोर वन में उसे गिद्ध की योनि में डाल दिया। वह गिद्ध बनकर बहुत से पक्षियों की हिंसा करके अपना उदर पोषण किया करता था।

पाप का फल तो अवश्य ही मिलता है। अत्युत्कट पाप पुण्यों का फल तो तीन दिन, तीन सप्ताह तीन महीने तीन पक्ष अथवा तीन वर्ष के अन्दर यहीं मिल जाता है। अपने पति की हत्या करके अरुणा सुखी नहीं हुई। उसके जार प्रेमी तो थोड़े दिनों में उसे छोड़कर चले गये। अब उसे भयंकर भगदर रोग हो गया। कोई उसके पास भी नहीं फटकता था। अत्यन्त कष्ट के साथ उसने अपने रोगी हुए सुन्दर शरीर का परित्याग कर दिया। उसे भी यमालय में नाना यातनायें भोगनी पड़ीं। अन्त में वह भी उसी वन में जिसमें पिंगल गिद्ध बनकर रहता था उसी में शुकी हुई। शुकी बनकर वह इधर-उधर दाना चुगती हुई घूमा करती थी।

एक दिन वह दाना चुगने के निमित्त जंगल में इधर से उधर दाना चुगती हुई फुदक रही थी, कि गृद्ध की दृष्टि इस पर पड़ी। पूर्वजन्म के वैर के कारण उसने इस शुकी पर प्रहार किया। उसे अपने तीक्ष्ण नखों से फाड़ डाला। वह क्षत विक्षत होकर समीप ही एक पानी से भरी हुई मनुष्य की खोपड़ी में जाकर गिर गयी। अभी वह पूरी तरह मरी नहीं थी, अतः गिद्ध पुनः उसकी ओर झपटा इतने में ही दैवयोग से एक व्याधा वहाँ आ पहुँचा, उसने अपने बाणों से उस गिद्ध को मार डाला। वह भी मरकर उसी पानी भरी खोपड़ी में जाकर गिरा। उस खोपड़ी में शुकी पहिले गिरकर मर चुकी थी, उसी में यह भी गिरकर मर गया। दोनों को यमराज के दूत पाशों में बाँधकर यमलोक ले गये।

ये दोनों अपने पूर्वजन्मों के किये हुए पापों को स्मरण कर करके भयभीत हो रहे थे। पहिले भी ये नरकों की महान्

यातनाओं को भोग चुके थे। ये दोनों यमराज के सम्मुख उपस्थित किये गये।

यमराज ने अपने मुनीम चित्रगुप्त को बुलाकर पूछा—"इनके पाप पुण्यों का लेखा जोखा बताइये।"

चित्रगुप्त ने कहा—"महाराज! इन दोनों के पापों का तो कुछ ठिकाना नहीं, किन्तु एक बड़ी आश्चर्य जनक बात हो गयी?"

यमराज ने पूछा—"वह क्या बात हुई?"

चित्रगुप्त ने कहा—मरते समय ये दोनों ही एक मनुष्य की उस खोपड़ी में गिर गये थे, जिसमें जल भर रहा था। उस खोपडी के जल में इन दोनों ने स्थान कर लिये। उस जल के स्पर्श मात्र से ही इनके समस्त पाप क्षीण हो गये।

यमराज ने कहा—"यह कैसे हुआ? वह खोपड़ी किसकी थी?"

चित्रगुप्त ने कहा—"महाराज! वह खोपडी वट नाम के एक उत्तम ब्रह्मज्ञानी महात्मा की थी। वे महात्मा भगवती भागरथी के तट पर रहकर सदा तपस्या तथा भगवद् भक्ति में तल्लीन बने रहते थे वे बड़े ही शान्त, दान्त, तितिक्षु, तपस्वी, एकान्त सेवी, अहंता-ममता से शून्य तथा परम वैराग्यवान् थे। वे प्राणिमात्र के सुहृद् थे, किसी से भी कभी द्वेष नहीं करते थे तथा प्रतिदिन नियम से श्रीमद्भगवद् गीता के पंचम अध्याय का प्रेमपूर्वक श्रद्धाभक्ति सहित पाठ किया करते थे। गीता के पंचम अध्याय के के निरन्तर पाठ करने से वे सिद्ध हो गये थे। वह खोपड़ी उन्हीं महात्मा वट की थी। वर्षा के कारण उसमें जल भर गया था। उसी जल के स्पर्श से—उसी में स्नान करने से—इनके अनेक जन्मों

के कलमष कट गये । ये निष्पाप बन गये अब आपकी जैसी आज्ञा हो ।"

यमराज ने कहा—"अच्छा तो, इन्हें बड़े सत्कार पूर्वक मनोवांछित पुण्य लोकों में पहुँचा दो ।"

यह सुनकर वे दोनों परम चकित हुए । यमराज और चित्रगुप्त की वार्ता इन लोगों ने सुनी नहीं थी । ये तो अपने को अपराधी समझकर यमराज के भय से थर-थर कांप रहे थे । जब यमराज ने इन्हें पुण्य लोकों में भेजने की आज्ञा दी, तब तो इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और ये अत्यन्त ही दीन भाव से धर्मराज जी के समीप गये और उनकी चरण वन्दना करके विनीत भाव से पूछने लगे—"ब्रह्मन् ! हम दोनों तो जन्म जन्मान्तरों के पापी है । हमने तो अपने जीवन में जघन्य से जघन्य पाप किये हैं, फिर आप हमें पुण्य लोकों में भेजने की आज्ञा कैसे दे रहे हैं । कहीं भूल तो नहीं हुई ?"

यह सुनकर धर्मराज ने कहा—"ना भैया भूल कुछ भी नहीं है । तुम्हारे कोई जन्म जन्मान्तरीय पुण्य उदय हो गये, जो तुम मरते समय परम शांत दान्त महामुनि वट की पानी से भरी मृतक खोपड़ी में जा पड़े । वे महात्मा गीता के पंचम अध्याय का नित्य नियम से पाठ किया करते थे । श्री मद्भगवत् गीता के पंचम अध्याय का जो पाठ करता है अथवा सुनता ही है और सुनकर उसे एकाग्र चित्त से मनन करता है, वह फिर चाहे पहिले महापापी ही क्यों न रहा हो, निरन्तर के पाठ से उसे सनातन ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है । उन्ही महर्षि वट के पुण्य प्रभाव से—उन्हीं की खोपड़ी के जल को पाकर तुम दोनों परम पवित्र हो गये हो । अब तुम अपने मनोवांछित लोकों में जाकर आनन्द के साथ दिव्य सुखों का उपभोग करो । श्री मद्भगवत् गीता का

पञ्चम अध्याय धन्य है, जिसके पाठक की खोपड़ी के जल से .. हो जाने पर पापी से पापी भी पुण्य लोकों के भागी . ज़ाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यह मैंने शिव पार्वती और लक्ष्म नारायण के सम्वादरूप में गीताजी के पञ्चम अध्याय का माहात्म आपको सुनाया। अब आगे (अगले खण्ड में) आपको छटे अध्या का माहात्म्य सुनाऊँगा।

छप्पय

पूर्व वैर तैं गिद्ध शुकी के ऊपर झपट्यो।
तीक्ष्णन खनि तैं मारि खोपड़ी जल में पटक्यो॥
व्याधा मार्यो बान गिद्ध मरि गिर्यो ताहि में।
दोऊ ह्वै निष्पाप गये मरि शुभ लोकनि में॥
पञ्चम शुभ अध्याय जो, वट मुनि जपि पावन भये।
मृतक खोपड़ी तासु जल, परसि शुकी खग तरि गये॥

योगयुक्त पुरुष कर्म करने पर भी उनमें लिप्त नहीं होता

[४]

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, ७, ८ श्लोक)

छप्पय

करत-करत शुभ करम शुद्ध इन्द्रिय मन जाको ।
अन्तःकरन विशुद्ध भयो साधन तें ताको ॥
योगयुक्त वह पुरुष करै करमनि स्वभाव तें ।
विजितात्मा बनि जाय शुद्ध मनके प्रभाव तें ॥
सब प्रानिनि परमात्मा, निज आत्मा में जानि कें ।
करम करत त्यागी यही, निज करता नहिँ मानि कें ॥

---

* जो योगयुक्त है, विशुद्धात्मा है, जिसने मन और इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसकी आत्मा सम्पूर्ण भूतों में आत्मभूत हो चुकी है, वह कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता ।।७।।

तत्त्ववित् योगी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास-प्रश्वास लेता हुआ भी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ ।।८।।

जब तक प्राणी को सच्चिदानन्दघन परमात्मा का ज्ञान नहीं होता, जब तक चैतन्य का यथार्थ ज्ञान नही होता, तब तक वह अज्ञानी प्राणी अपने को ही कर्ता मानकर इन देह, इन्द्रिय तथा मन आदि जड़ संघात से किये हुए कार्यों को अपना किया हुआ मानने लगता है। इसी अज्ञान के कारण उसे पुनः-पुनः जन्म लेना पड़ता है, पुनः-पुनः मरना पड़ता है। जब जड़ पदार्थों को चैतन्य से पृथक् करके चैतन्यघन का स्वरूप बोध हो जाता है, तब जड़ समूह के किये हुए कार्यों में अहंता नष्ट हो जाती है। फिर इन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले कामों में उसकी तनिक भी आसक्ति नही होती। कर्म होते रहे तो भी ठीक, न हो तो भी ठीक। इन्द्रियों द्वारा स्वभाव सिद्ध कर्म होने पर भी वे कर्म उसके लिये बन्धन का कारण नहीं होते।

जैसा कारण होता है, उसी के अनुरूप कार्य देखने में आता है। मिट्टी कारण है, उससे जो घड़े, सकोरा, कुल्लड़, हंडी आदि बर्तन बनेंगे, सब मृण्मय ही होंगे। ये ही पात्र यदि सुवर्ण से या रजत-चाँदी-से बनाये जायं, तो आकृति और कार्य क्षमता एक-सी होने पर भी वे सुवर्णमय तथा रजतमय ही कहलायेंगे। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं है।

अनादि काल से संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा तथा निष्काम भाव से-कर्तव्य बुद्धि से की जाने वाली कर्मनिष्ठा ये दो निष्ठायें परम्परागत चली आ रही हैं। पूर्वजन्म में जिन्होंने कर्म त्याग का अनुष्ठान किया है, उन्हें इस जन्म में आरम्भ से ही सभी कर्म काटने को दौडते है। कर्म करने में उनकी रुचि ही नहीं होती। उनके लिये कर्मज्ञान प्राप्ति का साधन मात्र है। वे तभी तक अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त कर्म करते हैं जब तक कि वे पूर्णत्याग के अधिकारी न बन जायें-अन्तःकरण शुद्ध न हो जाय-अन्तःकरण के

शुद्ध हो जाने पर–त्याग वैराग्य का अधिकार प्राप्त हो जाने पर–वे कर्मों को सर्वथा त्यागकर–दंड, कमण्डलु, कौपीन कंथा धारण करके संन्यासी हो जाते हैं। उनके लिये निष्काम कर्म साधन है ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना साध्य है, किन्तु पूर्वजन्मो के के संस्कार वश जिनका ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करने का सहज स्वभाव बन गया है, उनके लिये ज्ञान साधन मात्र है। वे ज्ञान-पूर्वक भगवत् अर्पित भाव से कर्म करते हैं। जब ज्ञान के द्वारा उन्हे पूर्ण भगवद्भक्ति प्राप्त हो जाती है, तो वे भक्ति के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ निष्काम कर्म–भक्ति-को साध्य माना है वहाँ ज्ञान साधन है। इसलिये वहाँ भक्ति को ही ज्ञानमार्ग से सर्वश्रेष्ठ बताया है—"कर्मयोगो विशिष्य ते" कहा है, और जहाँ निष्काम कर्मयोग या भक्ति को साधन बताया है वहाँ ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहा है "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" ज्ञान के समान पवित्र सर्वश्रेष्ठ–दूसरा नहीं है। ज्ञान हो जाने पर न तो कर्म करते ही रहने का आग्रह है, न कर्म त्याग का ही आग्रह है। पूर्वजन्म के संस्कारानुसार ज्ञान होने पर कर्म करते रहो तो भी कोई हानि नहीं। त्याग कर संन्यासी बन जाओ तो भी दोष नहीं, किन्तु गीता का प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्म योग या भक्ति ही है। अतः भगवान् अनेक युक्ति से–निष्काम कर्म योग को ही श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा करते है, क्योंकि अर्जुन निष्काम कर्मयोग भक्ति का ही अधिकारी है। उसे ज्ञानपूर्वक ब्रह्मार्पण बुद्धि से जनक आदि राजर्षियों की भाँति निष्काम कर्म योग में ही लगाना है। इसलिये "कर्मण्येव संसिद्धिमास्थितो जनकादयः" कह कहकर जनक जी का आदर्श उपस्थित किया। जनक जी ज्ञानी होने पर भी निष्काम भाव से प्रजा पालन रूप गुरुतर कार्यों में लगे रहे। उनके गुरु पंचशिख महामुनि कर्म

त्यागी संन्यासी ही थे, किन्तु उन्होंने न तो उन्हें कर्ममार्ग-वर्ण श्रम धर्मयोग–के अनुसार साधन करने की शिक्षा दी और सांख्य योग–सन्यास धर्म ज्ञानयोग की ही शिक्षा दी। उन्हें तीसरा मार्ग निष्काम कर्मयोग या ब्रह्मार्पण योग का ही उन अधिकारी समझा यह बात स्वयं महाराज जनक ने सुलभा कही है।

सुलभा एक क्षत्रिय वंश में उत्पन्न योगिनी थी। उसका ज राजर्षि प्रधान के वंश में हुआ था। वह बड़ी विदुषी थी। पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण उसकी सहजवृत्ति मोक्ष धर्म में थी पिता उस विदुषा का विवाह करना चाहते थे। सभी पिताओं स्वाभाविक इच्छा होती है, मेरी पुत्री को योग्यवर मिले, कि जैसी सुलभा विदुषी थी, उसके अनुरूप वर नहीं मिला। सुलभा ने विवाह करने का विचार छोड़ कर मोक्ष धर्म की दी- नी। वह संन्यासिनी बन गयी। योगाभ्यास करते-करते वह यो विद्या मे पारंगत हो गयी। वह योग के प्रभाव से यत्र-तत्र स संसार में घूमती रहती थी और साधु संन्यासी महात्माओं सत्संग करती रहती थी। मोक्षमार्ग के ज्ञाता बहुत से त्रिदंड संन्यासियों से उसने महाराजा जनक की बड़ी प्रशंसा सुनी। सभ महात्मा कहते थे, महाराज जनक गृहस्थ में रहते हुए भी–राज्य पाट करते हुए भी हमसे अच्छे हैं। तब सुलभा को स्वाभावि जिज्ञासा हुई कि मे चलकर देखूं तो सही। राज्यपाट करते हु गृहस्थ में रहते हुए-भी जनक राजा धर्मध्वज संन्यासियों से भ श्रेष्ठ कैसे है।

वह योगशक्ति से राजा के यहां अत्यंत ही सुन्दर शरी धारण करके राजा के यहाँ गयी। महाराज जनक ने उसका बड़ भारी सत्कार किया। योग प्रभाव से सुलभा ने राजा की बुद्धि

एकात्मता प्राप्त करली। तब सुलभा के पूछने पर राजा ने अपना परिचय दिया—देवि ! मै पराशर गोत्रीय–सन्यास धर्मावलम्बी महात्मा पंचशिख का शिष्य हूँ। कृपा करके स्वतः हो इधर आ गये थे और वर्षा के चार महीने वे मेरे यहाँ रह गये। उन्होंने ही मुझे मोक्ष धर्म का उपदेश दिया है। उन्होंने मुझे त्रिविध मोक्ष धर्म सुनाकर यह आज्ञा दी है कि तुम गृहस्थ मे ही रहो राज्य से दूर हटने की आवश्यकता नही। सो, देवि ! मैं संसारी विषयों को आसक्ति से रहित होकर परमपद मे स्थित हूँ।

मेरा मोह दूर हो गया है, मैं समस्त संसर्गों का त्याग कर चुका हूं, इसीलिये गृहस्थ में रहते हुए भी मैंने बुद्धि की परम निर्द्वन्द्वता प्राप्त करली है। मेरी दाहिनी भुजा पर कोई चन्दन लेपन करे, बाईं भुजा को कोई बसूले से छीले मै दोनों में ही समभाव से रहता हूँ। दोनों क्रिया करने वालो में मैं न राग करता हूँ न द्वेष। मैंने तुम्हारी तरह संन्यासियों का-सा वेष नहीं बनाया है। मेरी ऐसी दृढ़ धारणा है कि काषाय वस्त्र धारण करना, मस्तक मुड़ा लेना, त्रिदण्ड धारण तथा कमण्डलु ले लेना ये सब संन्यास के चिन्ह मात्र हैं, इन्हें देखकर दूसरे लोग समझ जाते हैं ये संन्यासी है, किन्तु केवल इन चिन्हों द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैंने कोई बाह्यचिन्ह धारण नहीं किया है, फिर भी मै आप्तकाम होकर सदा सुख का अनुभव करता हूँ, मेरी दृष्टि में मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण में कोई भी अन्तर नही। मै आसक्ति-रहित होकर राज्यपाट करता हूँ, समस्त राजकाजों को करता रहता हूँ, अतः मेरा अन्य त्रिदंडी संन्यासियो से स्थान विशिष्ट है। "मुक्त सङ्गः स्थितो राज्ये विशिष्टोऽन्यैस्त्रिदण्डिभिः" यही बात भगवान् ने अर्जुन से कही है "तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।" कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट

है । इसी का विस्तार करते हुए भगवान् अर्जुन को बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने यह जिज्ञासा की, किन सद्गुणों के कारण कर्म करते हुए भी निष्काम कर्मयोगी कर्मों में लिप्त नहीं होता, तो भगवान् कहने लगे—"देखो, भैया अर्जुन ! निष्काम कर्मयोगी में पहिला गुण तो यह होना चाहिये कि वह योगयुक्त हो।

अर्जुन ने पूछा—योगयुक्त का अर्थ क्या ?

भगवान् ने कहा—योगयुक्त का अर्थ है भक्तिमान् अर्थात् जो भी कर्म करे ब्रह्मार्पण बुद्धि से–भगवान् की सेवा समझकर करे। उनका कोई लौकिक फल न चाहे। निषिद्ध कर्म न करे। भगवान् की सेवा के ही लिये शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मों को जो करता है वही योगयुक्त पुरुष है। ऐसा ही पुरुष विशुद्धात्मा कहलाता है।

अर्जुन ने पूछा—विशुद्धात्मा का अर्थ क्या है ?

भगवान् ने कहा—यहाँ आत्मा शब्द से अन्तःकरण समझना चाहिये। अर्थात् जिसके अन्तःकरण से तमोगुण रजोगुण निकल गये हों। इन रज तम से मिश्रित सत्त्व भी निकल गया हो। केवल विशुद्ध सत्त्व वाले का नाम ही विशुद्धात्मा है। उसी को विजितात्मा भी कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—विजितात्मा क्या ?

भगवान् ने कहा—यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ देह है। जिसने अपनी देह को वश में कर लिया हो, जिसकी देह उसके अधीन हो, स्वयं देह के अधीन न हो। उसी को जितेन्द्रिय भी कहते हैं अर्थात् देह के साथ जिसने समस्त बाह्य इन्द्रियों को जीत लिया हो। जिसकी इन्द्रियाँ उसके अधीन हों। वह इन्द्रियों के अधीन न हो। ऐसा सर्वभूतात्म भूतात्मा पुरुष कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।

अर्जुन ने पूछा—सर्वभूतात्म भूतात्मा किसे कहते है ?

भगवान् ने कहा—हम जो देखते हैं सब पंचभूत निर्मित है। वह जड़ और चैतन्य दो भाँति का है। इसीलिये समस्त स्थावर जगम, जड़ चेतन्यात्मक जगत को सर्वभूत कहते हैं, और आत्मभूत अपना आपा। ऐसी है आत्मा जिसकी अर्थात् सब भूतों में आत्मवत् भावना करने वाला। सबको. आत्मस्वरूप समझने वाला पुरुष करता हुआ भी सदा अकर्ता बना रहता है। वह कुछ करता ही नहीं।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! वह करता क्यों नहीं, वह तो कानों से सुनता है, स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श करता है, घ्राणेन्द्रिय से सूंघता है, रसनेन्द्रिय से रस का अनुभव करता है, खाता-पीता है, पैरों से चलता है, निद्रा लेता है, श्वास-प्रश्वास लेता है, छोड़ता है, वाणी से बोलता है, मलेन्द्रिय से मल विसर्जन करता है, हाथ से ग्रहण करता है, आँखों के पलकों को खोलता है मीचता है। इतने काम करते हुए भी वह अकर्ता कैसे बना रहता है.?

भगवान् ने कहा—"इतने सब कर्म करते हुए भी तत्त्ववित् पुरुष यह माने कि मै कुछ भी नही करता।"

सूतजी. कहते है—मुनियो! इस विषय को भगवान् और स्पष्ट रूप मे कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

वही मुक्त अरु भली-भाँति तत्वनि कूँ जानें।
जो अपने को तीन काल नहिँ करता मानें॥
देखत देखे नही श्रवन करि सुनत नहीं है।
छूवत छूवे नहीं सूँघि सूँघत हु नहीं है॥
खावत हू खावे नहीं, चलत चले न सुपास है।
सोवत हू सोवे नहीं, श्वास लेत निश्वास है॥

कर्मयोगी कमलवत निर्लेप रहता है

[५]

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, ९, १० श्लोक)

छप्पय

बोलत बोले नहीं त्याग करि नाहीं त्यागत।
ग्रहन करत नहिँ लेइ, पलक मींजत नहिँ मींजत॥
खोले नितई पलक किन्तु करता नहिँ माने।
बरति रहीं निज अरथ, इन्द्रियनि ऐसो जाने॥
इन्द्रिय बरतति ई रहत, निज स्वभाववश नेम में।
करता इनको मैं नहीं, मगन रहे नित प्रेम में॥

---

* प्रलाप करता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलक मारता हुआ और खोलता हुआ भी सोचे कि वास्तव में इन्द्रियाँ अपना-अपना काम कर रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥९॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके आसक्ति को छोड़कर कर्मों को करता है, वह पापों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे जल से कमल लिप्यमान नहीं होता ॥१०॥

एक महात्मा थे, वे किसी विषयी के महलों में गये, वहाँ जाकर उन्होंने नाक बन्द कर ली। उस विषयी धनी ने पूछा—"भगवन्! आपने नाक बन्द क्या कर ली?"

महात्मा ने कहा—भैया, यहाँ मुझे चारों ओर विषयों की गंध आ रही है।

धनी ने कहा—"महाराज! यहाँ तो कहीं गन्ध नहीं है। चारों ओर सुगन्धित पुष्प खिल रहे हैं। सुगन्धित अंग राग लगाये मेरी सेविकायें पत्नियाँ घूम रही हैं। सुगन्धित जल का छिड़काव हो रहा है। मुझे तो कहीं गन्ध आती नहीं।

महात्मा ने कहा—"भैया, तुम्हें यहीं रहते-रहते गन्ध सहते-सहते अभ्यास पड़ गया है, इसलिये गन्ध नहीं आती।"

धनी ने पूछा—"अभ्यास से गन्ध कैसे मिट जायगी?"

महात्मा ने कहा—"अच्छा चलो, मैं तुम्हें इस बात को प्रत्यक्ष करता हूँ।" यह कहकर महात्मा उसे चमारों के मुहल्ले में ले गये। जहाँ सैकड़ों चर्मकार चर्म से जूते बनाते थे। सेठ को वहाँ चमड़े की बड़ी दुर्गन्ध आई। उसने नाक बन्द कर ली और महात्मा से कहा—"महाराज, कहाँ दुर्गन्ध में ले आये?"

महात्मा ने कई चर्मकारों से पूछा—"क्यों जी यहाँ दुर्गन्ध आ रही है?"

सबने यही कहा—"महाराज, यहाँ तो किसी भी प्रकार की दुर्गन्ध नहीं।"

तब महात्मा ने धनी सेठ से कहा—सेठजी! जैसे निरन्तर के अभ्यास से इन चर्मकारों को चर्म की दुर्गन्ध नहीं प्रतीत होती, उसी प्रकार नित्य विषयों में लगे रहने से विषयों में गन्ध नहीं आती। अभ्यास करते-करते आदमी उस बात का ऐसा अभ्यस्त हो जाता है, कि वह उसका सहज कर्म हो जाता है, इन्द्रियों से

संसर्ग होने पर भी उसका भान नहीं होता। बहुत से लोगों की तनिक सी आहट से नींद खुल जाती है, वे ही रेल के समीप रहने लगते है, तो रात्रि में अनेक बार रेल निकल जाती है, उन्हें पता तक नही चलता रेल कब निकल गयी।

इसी प्रकार कर्तृ स्वाभिमान शून्य होकर जो काम करते हैं, उन्हें पता ही नही रहता हमारे द्वारा कौन-सा कार्य हुआ। सहज स्वभाव से कार्य होते रहते है, उन्हें संकल्प नहीं करना पड़ता। नित्य के अभ्यास से अपनी इन्द्रियों द्वारा ही कौन-सा कार्य हो रहा है इसका भी पता नही चलता।

एक प्रसिद्ध महात्मा अपनें गुरुदेव के सम्बन्ध में बता रहे थे, कि वे सब कुछ करते हुए भी अकर्ता ही बने रहते थे, वे एक आश्रम का संचालन करते थे, किन्तु कौन क्या कर रहा है, इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता था उनके आश्रम का एक साधु था, उसे चूरमा खाने की इच्छा हुई। उसनें एक माई से कहा—"माई! स्वामी जो को चूरमा खाने की इच्छा है। माई ने तो अपना अहो भाग्य समझा स्वामीजी ने इतनी कृपा की। बहुत सुन्दर चूरमा बनाकर उसने साधु को दे दिया। साधुजो ने ले जाकर उसे खा लिया।

सायकाल सत्संग में माई आई, उसने आकर स्वामी जी से पूछा—"महाराज! चूरमा कैसा बना था?"

स्वामी जी ने पूछा—"कैसा चूरमा?"

माई ने कहा—"अमुक महात्मा ने मुझसे कहा था, कि स्वामी जी की इच्छा चूरमा खाने की है, मैने उन्हें बनाकर दिया था?"

स्वामी जी ने कहा—"बुलाओ उस साधु को।"

साधुजी को बुलाया गया, स्वामी जी ने पूछा—'तुम इस माई के यहाँ से मेरे नाम से चूरमा लाये थे?"

साधु ने कहा—हाँ, महाराज, लाया था।

स्वामी ने पूछा—"कहाँ गया वह चूरमा ?"

साधु ने कहा—"महाराज, उसे तो मैं खा गया ?"

स्वामी जी पूछा—"क्यों खा गये ? मेरे नाम से क्यों लाये थे ?"

साधु ने कहा—"महाराज, मेरे और आपके नाम में क्या अन्तर। ये सम्पूर्ण सृष्टि ही आपके नाम से खा रही है, तो मैंने चूरमा खा लिया तो क्या बुरा किया ?"

यह सुनकर स्वामी जी हंस पड़े और बोले—"माई ! बहुत बढ़िया चूरमा बना था।"

उन्ही महात्मा की एक और कथा वे कहते थे—एक दिन एक भगत की लड़की उनके पास बैठी थी। भगत जी भी बैठे थे। स्वामी जी शरीर से कुछ मोटे थे। उनकी अपान वायु निकली। उन्हें पता नहीं अपान वायु निकली। समीप में बैठे भगतजी को डांटने लगे—'तू आता है, लड़की को ले आता है, लड़की यहाँ अपानवायु छोड़ती है।"

यह सुनकर सब लोग हंसने लगे। सब जानते थे स्वामी जी संकल्प रहित ज्ञानी पुरुष हैं।

इसी प्रकार जड़ चेतन का विवेक करते-करते, इस शरीर में कौन-कौन पदार्थ जड़ हैं, कौन चैतन्य है, मै जड़ हूँ या चैतन्य। अपने चैतन्य स्वरूप का बोध होने पर जड़ संहात के कार्यों में कर्तापने का अभिमान रहता ही नहीं। पंचभूत जड़ हैं, इन्द्रियाँ जड़ हैं, अन्तःकरण भी भीतरी इन्द्रियां ही हैं वे भी जड़ ही है। जीव जो चैतन्य है और जड़ के देह के साथ जो इसका सम्बन्ध जुट गया है, इसलिये सब अहंकार के वशीभूत होकर अकर्ता होता हुआ भी अपने को कर्ता मान बैठता है इसीलिये बन्धन में फंस

जाता है, ऐसे ही व्यक्ति के कर्म, बन्धन के कारण होते हैं, वही जब जड समुदाय को पृथक् करके अपने चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है, तब इन्द्रियों से कुछ भी कार्य होते रहें, उन्हें वह अपना किया हुआ नही मानता। जब उन कर्मों को यही समझता है कि इन्द्रियाँ अपने कार्यों में अर्थों में बरत रही हैं, तो उसके द्वारा किये हुए कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। वह तो संसार मे रहता हुआ भी कर्म करता हुआ भी उनके कर्मों में सदा निर्लेप बना रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की कि निष्काम कर्मयोगी इन्द्रियों के सब व्यापार करता हुआ भी सभी प्रकार के कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त क्यो नही होता, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान कहते हैं—यह व्यक्ति शरीर से मन से बुद्धि से और इन्द्रियों मे सदा कर्म करता ही रहता है पाच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय ऐसे दश इन्द्रियाँ है। इन दश के दश ही कर्म है। नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण और रसना इन पांच ज्ञानेन्द्रिय के देखना, सुनना, सूंघना और खाना ये पांच कर्म हैं। पाद, वाणी, पायु, उपस्थ और हाथ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। गति, प्रलाप, मलमूत्र बिन्दुविसर्ग और ग्रहण इनके व्यापार है। ये तो दश इन्द्रियाँ और उनके दश कर्म हुए। पांच प्राण है भीतर उनके श्वास लेना छोड़ना सिकोड़ना आदि व्यापार है। नागकूर्मादि पाँच उपप्राण हैं उनका पलक खोलना, पलक गिराना आदि पाँच कर्म हैं। निद्रा लेना आदि अन्तःकरण का कार्य है। परमार्थ तत्व को भली भाँति जान लेने वाला योगयुक्त पुरुष इन सब कर्मों को करता हुआ भी सदा अकर्ता ही बना रहता है। वह समझता है ये इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारों में वर्त रही हैं। मैं कर्ता थोड़े हूँ, मैं इन सब व्यापारो से पृथक् हूँ,

में कुछ भी नहीं करता। ऐसा मानने पर—ऐसा दृढ़ संकल्प करने पर—वह निर्लिप्त ही बना रहता है क्योंकि सृष्टि तो संकल्प में ही है। अपने निज विषय सुख की—फल की—इच्छा न हो तो वे कर्म न सुख देते हैं न दुख। मुनीम है, दिन भर अपने स्वामी के कार्यों में व्यस्त रहता है, लाखों रुपये लेता देता है, किन्तु अपने को स्वामी—करने वाला—नहीं मानता। इसीलिये वह हानि लाभ का भागीदार नहीं होता, उसे तो अपने वेतन भर से प्रयोजन है। इसी प्रकार जो अपने शरीर भोग के लिये—इन्द्रियों के सुख के लिये कुछ नही करता। फल की इच्छा छोड़कर सब कार्य प्रभु के ही निमित्त करता है। भगवान् की सेवा समझकर ही कर्म करता है। जो करता उसे भगवान् को ही अर्पण कर देता है, ऐसा ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करने वाला भगवत् भक्त संसार में रहता हुआ भी—धर्म शास्त्र के विहित यज्ञ, दान तप आदि कर्मों को करता हुआ भी उसी प्रकार उनमें लिप्त नही होता, जैसे कमल जल से उत्पन्न हुआ भी—जल में सदा रहता हुआ भी—जल से लिप्त नही होता। एक बूँद भी पानी कमल के पत्ते पर डालो, उसे वह सोखेगा नही। सदा उससे निर्लेप—पृथक्—हो बना रहेगा। कमल के पत्ते पर पानी की बूँदें मोती की भाँति पृथक् ही दिखाई देंगी। पानी में रहते हुए भी उससे सर्वथा पृथक्। यही दशा निष्काम कर्मयोगी—भक्त—की भी है।

अर्जुन ने कहा—योगी लोग कर्म क्यों करते हैं? फिर एक से ही कर्मों को करने पर—स्वरूपतः एक समान कर्म होने पर—एक के लिये वे ही कर्म बन्धन के कारण होते हैं, दूसरों को वही कर्म मोक्ष के कारण बन जाते हैं, इसमें कारण क्या है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसे मैं आगे आपसे कहूँगा। यह विषय बहुत ही

सूक्ष्म है, अतः इस विषय को आप सावधानी के साथ, दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।

छप्पय

सबरे करमनि करै ब्रह्म में अरपन जोगी।
निश्चय मन में करै नहीं हौं करता भोगी॥
करमनि में आसक्ति त्यागिकैं करम करतु है।
नहीं जनम फिर लेइ नहीं यह कबहुँ मरतु है॥
कमल सदा जल में बसै, कबहुँ लिप्त होवै नहीं।
करम करत जोगी सतत, यह निरलेप रहै तहीं॥

कर्मयोगी अनासक्त भाव से चित्तशुद्धि के लिये कर्म करते हैं

[६]

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, ११, १२ श्लो०)

छप्पय

आसक्ती के बिना करम कोई नहिँ होवै ।
बिना वेदना कहो कौन जो प्रानी रोवै ॥
आत्मशुद्धि के हेतु करमयोगी करमनि कूँ ।
सांसारिक फल नहीं करम फल के त्यागनि कूँ ॥
तनतैं मनतैं बुद्धितैं, इन्द्रिनितैं केवल करै ।
करमनि में आसक्ति तजि, नहीं कर्म बन्धन परै ॥

---

* योगीजन तन से, मन से, बुद्धि से तथा केवल इन्द्रियों से भी आत्मशुद्धि के लिये, आसक्ति त्यागकर कर्म करते रहते हैं ॥११॥

योगी पुरुष कर्मफल को त्यागकर नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त करता है। वह जानता है, यह नौ द्वार वाला पुर देह है, इसमें रहता हुआ देही न कुछ करता है, न करवाता ही है ॥१२॥

बन्धन का कारण कर्म नहीं कर्म के फलों में आसक्ति ही है। जो अनासक्त भाव से कर्म करता है, अर्थात् कर्मों के फल के प्रति उसे कोई स्पृहा नहीं, ममता नहीं, तो वह कर्म करने पर भी उसके बन्धन में नहीं बँधता। जिसे कर्म के फलों में आसक्ति है, वह मन से कर्म का फल चाहने के कारण बन्धन में बँध जाता है। एक लड़का है, वह क्रीडा कर रहा है, खेल-खेल में उसने आम की गुठली बो दी। खेलने के पश्चात् घर चला गया, भूल भी गया, कल खेत में मैंने गुठली बोई थी, क्योंकि गुठली बोना, उसके फल स्वरूप वृक्ष होना उसके फलों की रक्षा करना, उसके फलों का उपभोग करना यह उसका लक्ष्य ही नहीं था। वह तो खेल रहा था। खेल के पश्चात् क्या होता है इसका उसके मन में कोई विचार ही नहीं। इसलिये उस बीज से उत्पन्न अंकुर, पौधा, वृक्ष, फूल, फल में न उसकी आसक्ति है न स्पृहा है। उसे उस कर्म के फल से न दुःख न सुख, किन्तु जिसकी भूमि में वह लड़का खेल रहा था, उसे अपनी भूमि में आसक्ति थी। वह गुठली अंकुरित होकर पौधा हो गयी। भूमि का स्वामी कहने लगा मेरा वृक्ष है। अब उसकी सार सम्हाल करने लगा। एकदिन दूसरे की बकरी आकर उसके पत्ते चर गयी, वह उससे लड़ पड़ा, लड़ाई हो गयी, चोट लग गयी। लोगों ने बीच-बिचाव कर दिया। अब उसने पौधे के चारों ओर काँटे लगाये, इस आशा से कि इस पर फल लगेंगे तो मैं खाऊँगा। रात्रि दिन उसकी चिंता करता, उसकी रक्षा में व्यग्र रहता। कालान्तर में उस पर फल आये। वह उनकी रक्षा करने लगा। बड़ी-बड़ी आशायें रखने लगा। कुछ फलों का अचार डालूँगा, कुछ को पकाऊँगा। नित्य उन्हें खाऊँगा। एक दिन वह किसी काम से बाहर गया। पास पड़ोस के लड़कों ने जब एकान्त देखा तो फलों पर मन चल ही गया। एकान्त में

खिले हुए फूलों को देखकर, एकान्त में पके हुए फलों को देखकर, एकान्त में पड़े सुवर्ण या सिक्कों को देखकर और अकेली रूप लावण्यवती युवती को देखकर, घोर संयमी साधक को छोड़कर शेष सभी लोगों का मन तो चलायमान हो ही जाता है। यह दूसरी बात है, कि भय की आशंका से उस पर हाथ न डाले। लड़कों में इतना विवेक नहीं होता, लड़को ने चढ़कर खूब फल तोड़ लिये। इतने में ही वह पेड वाला आ गया। लडके भगने लगे। एक दो को उसने पकड़कर मारा। उनके घर वाले आ गये। दोनों ओर से कहा सुनी हुई फिर लाठी चली। पेड़ वाला घायल हो गया। मर गया। जिस पेड को उसने बोया नहीं, केवल ममता वश मेरा है, मेरा है, कहकर आसक्ति के कारण उसे प्राणों से हाथ धोने पड़े महान कष्ट उठाना पडा। अतः दुःख का कारण कर्म नहीं है, कर्म के फलों के कारण ही आसक्ति होती है, और वह आसक्ति ही दुख का कारण है।

एक कुटी में महात्मा रहते थे। वे विरक्त तथा त्यागी थे। भजन पूजन से जो समय बचता उसमें आमों के वृक्ष लगाते, उन्हें सींचते, पानी देते। उनके पास ही एक दूसरा किसान था, उसने भी आम का बगीचा लगाया। दोनों समान रूप से उनकी रक्षा करते। समान रूप से गोड़ते, समान रूप से एक ही नाले से पानी देते। दोनों में साथ ही फल आ गये। महात्मा का तो नियम था, वे तो वैसे ही मन विनोद को पेड़ लगाते थे, जब उनमें फल आने को होते, तो वे उस बगीचा को छोड़कर चले जाते, दूसरे स्थान पर जाकर इसी प्रकार बगीचा लगाते। इस प्रकार न जाने उन्होंने कितने स्थानों पर कितने बगीचे लगाये, किन्तु उनकी इच्छा न फल खाने की थी, न मेरा नाम हो, इस पुण्य से मुझे स्वर्ग मिले यही इच्छा थी। वे मनोविनोद को समय का सदुपयोग हो

इसलिये वृक्ष लगाते और फल दूसरे लोग खाते थे। इसके विपरीत जिस किसान ने बगीचा लगाया था, फल आने पर उसे रात्रिदिन बगीचा की ही चिन्ता लगी रहती। फलों की रक्षा में व्यग्र रहता, नित्य लोगों से लडाई झगड़ा होता, घर परिवार वाले भी उसके शत्रु बन गये। अंत में झगड़ा हुआ मर गया। मर कर आम के फलों का कीड़ा हुआ। बगीचा लगाने का काम दोनों ने समान रूप से किया, श्रम भी समान ही रहा। कार्य भी एकही था, किन्तु एक का फल हुआ दूसरों का सुख और अपनी मन की शांति। किसान का फल हुआ सबसे लड़ाई झगड़ा होना औरों का बुरा बनना और अन्त में दुर्गति प्राप्त करना।

अतः दुःख का कारण आसक्ति है। योगी लोग भी संसारी लोगों की भाँति कर्मों में लगे रहते हैं, किन्तु उनके कर्मों में और संसारी लोगों के कर्मों में अन्तर इतना ही रहता है, कि कर्म योगी का कर्म परोपकार के लिये लोक संग्रह के लिये आत्म शुद्धि के लिये मुक्ति का कारण होता है और संसारी लोगों का वही कर्म लड़ाई झगड़े के लिये अपने उपभोग की नियत से किया जाता है और का परिणाम यह होता है, कि संसारी बन्धन और दृढ़ होता जाता है। कर्म बन्धनों में अधिकाधिक बँधता जाता है। अतः साधक को आसक्ति का त्यागकर केवल अन्तःकरण की शुद्धि के ही निमित्त कर्मों को करते रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने योगियों के कर्म करने का कारण और एक से ही कर्म के फल विपरीत होने का कारण पूछा, तब भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"अर्जुन! यद्यपि कर्मों से बन्धन होता है, किन्तु वे ही कर्म सांसारिक भोगों की इच्छा से रहित होकर निष्काम भाव से किये जायँ, तो वे बन्धन का कारण न होकर उलटे मुक्ति का कारण बन जाते हैं।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! विना कामना के तो कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। किसान खेत को जोतता है, बोता है, पानी देता है निराता है, रक्षा करता है, किस लिये ? इसलिये कि उसे खेत पक जाने पर बीज से सैकड़ो गुना अन्न मिलेगा। जब फल की आशा ही न रहेगी, तो वह खेत में इतना परिश्रम क्यों करेगा। विना प्रयोजन के तो मन्द से मन्द बुद्धि भी किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। हम भोजन वनाते है, तो इस इच्छा से कि इससे हमारी भूख की निवृत्ति होगी। जब फल की इच्छा ही नहीं, किसी प्रकार की कामना ही नही तब तो कर्मों का आरम्भ ही असंभव है। फिर कर्म योगी कर्म क्यों करता है ?

भगवान् ने कहा—कर्मयोगी साधक को संसार के भोगों की कामना नहीं, किन्तु जन्म जन्मान्तरों के कर्म संस्कारों से जो अन्तःकरण में मलिनता आ गयी है, उसी मलिन अन्तःकरण को विशुद्ध वनाने के लिये—अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त ही कर्म करते हैं, क्योंकि विष की औषधि विष ही है। कर्म जनित मलिनता निष्काम कर्मों द्वारा हीं हो सकती है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! कर्मों के साथ 'निष्काम' विशेपण क्यों लगा देते हैं। यों कहिये, कि कर्म जनित मलिनता कर्म करने से ही दूर होगी।

भगवान् ने कहा—"निष्काम विशेपण इसलिये लगाते हैं कि कर्म सकाम भाव से किये गये, तो वे आगे को अपना बीज और बढ़ावेंगे। कर्म करने से पुराने कर्मों का भोग तो भोगा ही जायगा, साथ ही वह सकाम कर्म आगे के लिये क्रियमाण कर्मों को और उत्पन्न करेगा। जैसे बीज बोया तो उस बीज से तो अंकुर उत्पन्न होगा ही, साथ ही वह बीज अन्य बीजों को भी उत्पन्न करेगा। यदि उस बीज़ को भूनकर बोओ तो वह अन्य

बीजों को उत्पन्न करने में सक्षम न होगा। इसलिये निष्काम कर्म बीज को भूनने के समान है। कर्मों में वासना न रखकर कर्मों को करो। तो उन जप, यज्ञ, पूजादि कर्मों से अन्तःकरण तो शुद्ध हो जायगा, किन्तु आगे के लिये क्रियमाण कर्म न बनेंगे। इसलिये फल की आशा छोड़कर केवल इन्द्रियों से, केवल देह से, केवल मन से, तथा केवल बुद्धि से कर्म करते रहने पर कर्म बन्धन के कारण न होंगे।

अर्जुन ने पूछा—केवल देह से, केवल मन से, केवल बुद्धि से तथा केवल इन्द्रियों से कर्म कैसे किया जाता है ?"

भगवान् ने कहा—जैसे गंगा स्नान को गये। शरीर से गंगा जी में डुबकी लगाली। और सोच लिया मैंने यह स्नान केवल ईश्वर की प्रीति के निमित्त किया है, तो वास्तव में गंगा स्नान का फल तो स्वर्ग होना चाहिये था, किन्तु ब्रह्मार्पण बुद्धि से करने पर उसका फल अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक प्रभु प्राप्ति या मुक्ति ही होगा। इसी प्रकार केवल मन से कोई शुभ संकल्प किया जाय, केवल बुद्धि से ब्रह्मार्पण भाव से निश्चय किया जाय। केवल कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म अथवा ज्ञानरूप कर्म किया जाय, तो उसका फल यही होगा, कि उस भगवत्-प्रीत्यर्थ कर्म से अन्तःकरण विमल बन जायगा। निर्मल मन से भगवत् साक्षात्कार हो जायगा। संसार बन्धन से मुक्ति मिल जायगी।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्म तो एक से ही हैं। करने के साधन भी एक से ही हैं, किन्तु उनके फलों में विषमता क्यों है। उन्हीं कर्मों के करने से एक तो बन्धन में बंध जाता है, दूसरा उन्ही कर्मों से विमुक्त बन जाता है। इसका क्या कारण है ?"

भगवान् ने कहा—इसका कारण है सकामता निष्कामता।

कर्म कोई न अच्छे हैं न बुरे। हम अपनी भावना के अनुसार ही उनमें अच्छेपन बुरेपन का आरोप कर लेते है। कर्म एक-सा ही है। किया भी वह एक प्रकार से ही गया है, किन्तु भाव भेद से उसके फल में भेद हो जाता है। एक दूकान पर दो आदमी बैठे दोनों ही व्यापार में एक समान लगे हैं, एक प्रकार कार्य कर रहे हैं, किन्तु लाभ या हानि होने पर एक तो रोता है, दूसरा न रोता है न हंसता है। रोने वाला तो अपने को स्वामी-स्वतंत्रकर्ता मानकर काम करता है। वह तो फल में आसक्त होकर काम करता है, इसलिये वह हर्ष शोक में लिप्त होकर सुख-दुख उठाता है। दूसरा अपने को स्वतन्त्रकर्ता स्वामी नहीं मानता। अपने को स्वामी का सेवक मानता है। अपने को मुनीम कहता है। कर्तव्य समझकर काम वह लगन से करता है, किन्तु लाभ हो, हानि हो दोनों में उसकी बुद्धि सम है उसे अपने नियत वेतन से प्रयोजन। लाभ हानि का सुख-दुख वह भोगेगा, जो उसका स्वामी होगा। एक नाइन है। उसके एक यजमान के घर लड़का मर गया है, तो वह सब स्त्रियों के साथ खूब चिल्ला-चिल्ला कर रोती है। वहाँ से निवटकर दूसरे यजमान के यहाँ बच्चा हुआ है, तो बधाई के हंस हंसकर गीत गाती है, तीसरे यजमान के यहाँ विवाह है, तो खूब नाचती है, स्वाँग बनाती है, दक्षिणा माँगती है। उसके मन पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं। उसे तो यजमान के यहाँ अपने कर्तव्यों का पालन मात्र करना है। इसी प्रकार जो ईश्वर के ही निमित्त सब कर्मों को करता है, वह उन कर्मों के सुख-दुख में लिप्त नही होता।

कर्मयोगी साधक अपने किये हुए कर्मों से किसी सांसारिक फलों की कामना नही रखता, वह कर्मफल को त्यागकर कर्मों को करता हुआ भी नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त करता है। इसके

विपरीत जो कर्मयोगी नहीं, साधक नहीं। अयुक्त है, सकाम भाव से कर्म करने वाला है। फल की इच्छा रखकर कर्मों में प्रवृत्त होने वाला है, तो वह फलों की अभिलाषा के कारण कर्मों में पहिले से भी अत्यधिक बँध जाता है। दोनों में एक-सा कर्म करने पर भी यही भेद है।

अर्जुन ने पूछा—कर्मयोगी को क्या सोचते हुए कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिये।

सूतजी कहते है—मुनियो! अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् ने जो उत्तर दिया उसका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

अनासक्त आसक्त करम दोउ समान हैं।
किन्तु भाव को भेद भेद फल में महान हैं॥
योगी करमनि करै नहीं फल तिनिको चाहे।
करै करम आसक्त सकामी सो बँधि जाये॥
दोउनि में अन्तर जिही, करम करैं दोउ सतत।
एक युक्त है त्यागिफल, करै दूसरो फलहिँ हित॥

आत्मा कर्तृत्व अभिमान से शून्य है

[७]

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, १३, १४ श्लोक)

छप्पय

जाने अन्तःकरन कर्यो वश में अरजुन सुनि ।
पावैं वह सुख सतत वही योगी ज्ञानी मुनि ॥
मन तैं करमनि त्यागि वही संन्यासी सच्चो ।
ऊपर तैं तजि करम करै मन तैं सो कच्चो ॥
नौ द्वारनि की देह में, अनासक्त दुख-सुख नसै ।
करवावै नहिँ करै कछु, द्वन्द रहित पुर में बसै ॥

---

* जितेन्द्रिय पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को मन से त्यागकर सुखपूर्वक रहता है। वह जानता है, यह नौ द्वार वाला पुर है, इसमें रहता हुआ देही न कुछ करता है, न करवाता है ॥१३॥

यह आत्मा प्राणियों के न कर्मों को रचता है, न कर्तापन को और न कर्मफल संयोग को ही बनाता है। यह सब तो स्वभाव से-प्रकृति से-हो रहा है ॥१४॥

हम साधारण लोग विवश होकर–अवश बनकर–कार्यों को करते हैं। सर्वप्रथम तो पूर्व जन्मकृत कर्मों की वासनाओं से आबद्ध होकर हम कर्मों को करते रहते हैं। कोई अहंकार में भरकर यह कहे कि मैं इस काम को तो करूंगा नहीं, इस काम को करूंगा, तो वह मूढ है, कर्म तो स्वभाव से–प्रकृति के द्वारा हो रहे हैं। हम प्रारब्ध कर्मों के वशीभूत होकर कर्म करते हैं। इन्द्रियाँ भी हमारे वश में नहीं हैं। जिह्वा भाँति-भाँति के रसों को चखना चाहती है, घ्राण सुगन्धों को सूँघने को उत्सुक है, नेत्र सुन्दर-सुन्दर रूप देखना चाहते हैं। कोई इन्द्रिय अपनी ओर खींचती है, दूसरी अपनी ओर। जैसे किसी व्यक्ति के पांच स्त्रियाँ हों, पांचों ने उसके लिये पृथक्-पृथक् पदार्थ बनाये हों। वह ज्यों ही आंगन में आया, कि एक ने उसका पल्ला पकड लिया मेरे घर चलो आज तुम्हें मेरे घर ही भोजन करना पडेगा। दूसरी ने उसका हाथ पकड़ लिया। वहाँ कैसे जाओगे, मेरे घर कढ़ी बनी है, वहां चलना पड़ेगा। तीसरी ने उसकी चुटिया पकड़ ली वाह जी! अच्छे रहे, कल आपने मेरे घर आने का वचन दिया था, मेरे यहाँ चलना ही पड़ेगा। इसी प्रकार पाँचों उसे अपनी-अपनी ओर खींचती हैं। वह विवश बना उस खींचातानी में अपनी फजीहत करा रहा है।

मन अपना पृथक् ही आकाश में किला बना रहा है, मन अन्य कार्यों को करने को विवश कर रहा है। इस प्रकार जिसने अपनी इन्द्रियों को, अन्तःकरण को वश में नहीं कर लिया है, ऐसा अवशी पुरुष अपने को कर्ता मानकर भाँति-भाँति की यातनाओं को भोगता रहता है। कभी किसी के मन की कर देता है, कभी किसी के प्रतिकूल कर देता है। वह भी बेचारा क्या करे वह भी अवश है, विवशता वश उसे ऐसा करना पड़ता है। इसीलिये नानायोनियों में घूमता हुआ भाँति-भाँति के क्लेश उठाता रहता है।

इसके विपरीत जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है, कि ग्रात्मा तो ग्रकर्ता है, ग्रसंग है, निर्लेप है। ये जो कार्य हो रहे है, ये सब प्रकृति की प्रेरणा से ग्रपने ग्राप हो रहे है। मैं इन्द्रियो के ग्रधीन नही, किन्तु ये इन्द्रियाँ ही मेरे ग्रधीन है, मैं ग्रन्तःकरण के वशीभूत नहीं, किन्तु मन, बुद्धि, चित्त और ग्रहंकार मेरे ही ग्रधीन हैं, इन सबको मैं वश में रखूँगा। कर्म इन्द्रियो से होते है, तो होते रहे। उनके दुःख सुख का मैं भोक्ता नही, तो इन्द्रियो ग्रौर देह के द्वारा किये हुए कर्मों का ग्रात्मा फलभोक्ता नही होता। जैसे कोई कारखाना है, उसमें सैंकड़ों ग्रादमी काम कर रहे है, ग्रपने-ग्रपने कामों में सब तत्पर हैं। जब तक कोई व्यक्ति ग्रपने को उस कारखाने का स्वामी समझता है, तब तक हानि लाभ सुख-दुख दोनों का भागी वह स्वामी ही होता है। कारखाना तो चल ही रहा है, कर्मचारी कार्य कर रहें है, किन्तु हानि होने पर ग्रपने को स्वामी समझने वाले को ही दुख होता है, जब कारखाने का स्वामी ग्रपना स्वामित्व त्याग देता है। समस्त ग्रधिकार कर्मचारियों को ही सौंप देता है, वास्तव में वे ही वस्तुग्रों के उत्पादक है, तो कारखाना तो पूर्ववत् ही चलता है, उत्पादन भी पहिले के ही भाँति होता है, किन्तु वह स्वामी ग्रब सुख से सोता है, उसे कोई चिन्ता नही। हानि लाभ का सुख-दुख कर्मचारियों के संघ को ही होता है। काम सब होते हुए भी वह न ग्रपने को करने वाला मानता है, न कराने वाला। वह काम भी जैसे पहिले करता था, वैसे ही करता भी है, कार्यालय में जैसे पहिले बैठता था वैसे ही बैठता है, कर्मचारियों के प्रश्नों का उत्तर भी वह जैसे पहिले देता था, वैसे देता है। उसने शरीर से कर्म छोड़े नही हैं, किन्तु मन से उसने कर्तृत्वाभिमान को हटा दिया है। इसी प्रकार कर्मयोगी उसी

प्रकार कर्म करता रहता है, जैसे ज्ञान न होने के पूर्व आसक्ति सहित काम किया करता था, अथवा अन्यकर्मासक्त मनुष्य जैसे कार्य करते है। अब जब उसे ज्ञान हो गया है, कि मै कर्ता नही, कर्म तो गुणों के संहात से प्रकृति द्वारा होते रहते हैं, तो वह सब कर्मों का मन से त्यागकर देता है। अब उसे न कर्म करने का आग्रह है न कर्म त्यागने का ही आग्रह है। शरीर से कर्म हो रहे है। वह मन से अपने को करने कराने वाला न मानकर साक्षीरूप से सब कर्मों को होते हुए देख रहा है। जैसे कारखाने के नौ दरवाजे हैं, किसी दरवाजे से सामान जा रहा है, किसी से निकल रहा है। नौ दरवाजे खुले हुए हैं। समय पर कोई दरवाजा बन्द हो जाता है, कोई आठो प्रहर खुला ही रहता है। ज्ञानी पुरुष सामान आ जायं तो उसे हर्ष नहीं, निकल जाय तो उसे विशाद नहीं। वह इन्द्रियों को बाहर भीतर के कर्मचारियों को अपने शासन में रखता हुआ भी अपने को अकर्ता ही अनुभव करता है। इस शरीर रूपी कारखाने में ९ दरवाजे हैं। दो आंख के द्वार, दो नाक के दो कान के। ६ हुए एक मुख का और दो नीचे के मल और मूत्र के। मुख मे कच्चा माल भीतर जाता है। नाक के द्वारों से श्वास प्रश्वास आती जाती है। नेत्रों से प्रकाश निकलता है, कान से शब्द भीतर जाता है। मूत्रेन्द्रिय से मूत्र तथा वीर्य निकलता है, मल द्वार से मल बाहर आता है। वायु जाने के बहुत से छोटे-छोटे झरोखे-रोमकूप हैं, इनसे स्वेद—पसीना—आदि निकलता है। अज्ञानी तो इन कर्मों को अपना किया हुआ मानता है, अतः दुःख उठाता है। ज्ञानी समझता है, ये द्वार तो खुले हुए हैं, समय पर सामान भीतर चला जाता है, समय से अपने आप उदर के यन्त्रों से पक-पककर अपने-अपने स्थानों में बंट जाता है, फालतू निकल जाता है, इसमें मेरा अपना कर्तृत्व क्या है। ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने

पर वह सुख का अनुभव करता है। अपने को कर्ता मानने में ही दुख है और अकर्ता मानने में ही परमानन्द है। इन्द्रियों के वशीभूत होने में ही दुख है और इन्द्रियों का निग्रह करके उन्हें अपने वश में करके रखना यही साधक का लक्ष्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने पूछा कर्मयोगी को क्या सोचते हुए कर्म करते रहना चाहिये, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन ! शारीरिक कर्म तो किसी से छूटते ही नहीं। आँख जब तक है, तब तक देखोगे ही, कान जब तक हैं, तब तक सुनोगे ही, नाक जब तक है, तब तक श्वास प्रश्वास लोगे ही, मुख जब तक है, तब तक बोलोगे ही, कुछ न कुछ भोजन करोगे ही। मलमूत्र द्वार जब तक है, तब तक किसी भी समय मल मूत्र विसर्जन करोगे ही, इसलिये शारीरिक कर्म न कभी छूटते हैं हैं न उन्हें छोड़ना ही चाहिये। हाँ मन में जो कर्तापने का अभिमान है, उसे त्यागकर उस कर्तापने से संन्यास लेकर इन्द्रियजित ज्ञानी पुरुष केवल इन्द्रियों द्वारा कर्मों का करता रहे और मन में यह सोच ले कि यह जो शरीर है, यह ९ द्वार वाली एक धर्मशाला है, इसमें मैं सदा के लिये नहीं, कुछ काल के लिये आकर ठहर गया हूँ। इसकी स्वच्छता तो मुझे रखनी ही होगी, झाड़ू बुहारू तो देनी ही पड़ेगी। वैसे मैं इस धर्मशाला का न बनाने वाला हूँ न स्वामी हूँ, मैं तो पथिक हूँ, संयोग से आकर इसमें ठहर गया हूँ। न मैं कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ। ऐसा सोचकर जो धर्मशाला को स्वच्छ बनाकर रहेगा, वह सुखी रहेगा। जो उसमें व्यर्थ में कर्तापने का झूठा अभिमान कर लेगा, उसे चिन्ता, दुख ग्लानि, वेदना आदि उठानी पड़ेगी।

अर्जुन ने पूछा—इस शरीर रूपी धर्मशाला में रहते हुए क्या

सोचे ? नौकर-चाकर जो पूछकर या बिना पूछे काम कर रहे हैं, उनके साथ कैसा वर्ताव करे ?"

भगवान् ने कहा—"यही सोचता रहे, कि यह जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, यह न कर्मों को करता है, न इसमें कर्तापन ही है। जब कर्मों की रचना ही नहीं करता तो फिर कर्मों के फलों के भोग का तो प्रश्न ही नहीं, क्योंकि फल का भोक्ता तो कर्ता ही होता है। आत्मा अकर्ता है, अभोक्ता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तो फिर ये जो संसार में देहादि निरन्तर कर्म होते रहते है, इन्हें कौन करता है।"

भगवान् ने कहा—ये तो त्रिगुणों के संघात से प्रकृति द्वारा ही कर्म हो रहे हैं। अहंकार वश ही प्राणी अपने को कर्ता मान बैठता है स्वभाव से सब कर्म हो रहे हैं। जगत् का व्यापार चलते रहना यही स्वभाव है इसी को प्रकृति कह लीजिये। शरीर रूपी धर्मशाला में रहते हुए यही समझे कि यहाँ के सब काम नियम से हो रहे हैं। समयानुसार हाँ ना कह दिया करे। जो हो रहा है उसे साक्षी रूप से देखता रहे।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! जब आत्मा कर्ता नहीं, तो जीव मोह में क्यों फंस जाता है, क्यों नाना योनियों में भटकता फिरता है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के ऐसा प्रश्न करने पर जगदाधार सच्चिदानन्द आनन्दघन स्वरूप परमात्मा प्रभु श्री कृष्णचन्द्र जी हँसे और फिर अर्जुन को जो कुछ इसका उत्तर दिया उसे मैं आपसे आगे कहूँगा। आप इस पावन प्रसंग को दत्तचित्त से श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

*करता ईश्वर नहीं रहै निरद्वन्द्व निरालो।
सदा रहे निरलेप निरंजन नित्य विचारो॥
करतापन नहिँ करै बनावै करता नाहीं।
करमनि कूँ नहिँ करै फँसै नहिँ करमनि माहीं॥
नहीं करै संयोग फल, करमनि को जो बनि गयो।
सब स्वभाव आधीन है, सब स्वभावतैं ह्वै रह्यो॥*

अज्ञान से ज्ञान ढक गया है इसी से प्राणियों को मोह हो गया है

[८]

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥*

(श्री भग० गी० ५ अ० १५, १६ श्लोक)

छप्पय

विभु विश्वंभर मह्य जगत में व्यापि रह्यो है।
कहें पुरान महान वेद हू गाइ रह्यो है॥
पुण्य करम नहिँ लेइँ न उनकूँ प्रभु स्वीकारै।
ग्रहन पाप नहिँ करैं न पापिनि जगत निकारै॥
ज्ञान ढक्यो अज्ञान ने, चकाचौंध सबई भये।
मोहित अज्ञानी भये, बौरे मूरख बनि गये॥

---

* वह विभु परमात्मा न तो किसी के पाप को न किसी के सुकृत को ग्रहण करता है। अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढक गया है इसी से जीव मोहित हो जाते हैं॥१५॥

किन्तु जिनके मन का अज्ञान, ज्ञान के द्वारा नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान उस परब्रह्म को उसी प्रकार प्रकाशित कर देता है जैसे उदय होने पर सूर्य सब पदार्थों को प्रकाशित कर देता है॥१६॥

शास्त्रों में कौन कर्म करता है, कौन कराता है, इस विषय में भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये गये है। कोई कहते—'सुख-दुख देने वाला कोई दूसरा नहीं। अपना आपा ही अपना मित्र है, अपनी आत्मा ही शत्रु है। "जैसी करनी वैसी भरनी।" कोई कहते है—सब प्रारब्ध के अधीन है। प्रारब्ध के अनुसार जैसा सुख-दुख होने वाला होता है, वैसे ही सब साधन उपस्थित हो जाते हैं। भवितव्यता के आगे किसी का चारा नहीं। जैसा होने वाला होता है, मनुष्य हठपूर्वक-इच्छा न रहने पर भी प्रारब्ध वश वहां पहुँचकर किसी अव्यक्त प्रेरणा से कार्य करने लगता है।"

कोई कहते हैं—सब कुछ स्वभाव से ही हो रहा है, जिसकी जैसी प्रकृति होती है—जैसा स्वभाव होता है—उसी के अनुसार अपने आप स्वभावानुकूल कार्य में प्रवृत्त होता है, जब लोग कर्मों के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं। गोप प्रतिवर्ष वर्षा के पश्चात् कार्तिक की पूर्णिमा को इन्द्रयाग किया करते थे, उनका विश्वास था कि मेघों का स्वामी इन्द्र है, यदि इन्द्रकी पूजा करेंगे, तो इन्द्र प्रसन्न होकर अच्छी वर्षा करेगा। जिससे घास तथा अन्न होगा, नदी तालाबों में जल भर जायगा। अन्न को मनुष्य खायेंगे। तृण घास से गौओं का पेट भरेगा, पानी से सबका जीवन निर्वाह होगा। सदा से इन्द्र को ही पानी दाता मानकर गोप उन्हें पूजते थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जो भी कारण रहा हो इन्द्र की पूजा बन्द करा दी। उन्होंने गोपों को कर्मवाद का उपदेश दिया। अपने बाबानन्दजी से भगवान् ने कहा—"बाबा तुम क्या इन्द्र की पूजा करते हो, इन्द्र पानी कहाँ से लावेगा। इन्द्र जीवन देने वाला कौन होता है, प्राणी तो अपने कर्म के अनुसार ही उत्पन्न होता है और कर्म के अनुसार ही मर जाता है। सुख, दुख भय, शोक,

मंगल तथा अमंगल सब कर्म के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। मान लो कोई इन्द्र आदि ईश्वर है भी तो वह भी तो कर्मानुसार ही फल देगा। यह थोड़ा ही है कि वह अपनी इच्छा से जिसे जितना चाहे उतना दे दे, यदि वह ऐसी मनमानी घर जानी करता है, तो उसमें विषमता का दोष आ जायगा। उसका ईश्वरपना समाप्त हो जायगा। इसलिये ईश्वर भी कर्मानुसार ही फल देता है। जो कर्म नहीं करते, उनकी सहायता ईश्वर भी नही करता। जब सब कर्मानुसार ही हो रहे हैं, तो हमें बेचारे इन्द्र से क्या लेना देना। वे हमारे पूर्वजन्मकृत संसार-प्रारब्ध-को तो बदल ही नहीं सकते। सब कर्मानुसार स्वभाव में-अपनी प्रकृति में-वर्त रहे हैं। कर्मानुसार ही किसी से शत्रुवत् किसी से मित्रवत किसी से उदासीनवत् व्यवहार प्राणी करते हैं। इसलिये कर्म ही प्रधान है। उसे ही चाहे गुरु कहो उसी को ईश्वर कह लो।

नन्दजी ने पूछा—"तब हमें करना क्या चाहिये ? पूजा किसकी करनी चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। जिस वर्ण की जिस कर्म द्वारा आजीविका चलती है, उस वर्ण वालों को उसी की पूजा करनी चाहिये। जैसे ब्राह्मणों को वेद की पूजा करनी चाहिये उसी के अध्ययन-अध्यापन रूप कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। क्षत्रिय को पृथ्वी की पूजा करनी चाहिये उसी का पालन पोषण संरक्षण करना चाहिये। वैश्यों की व्यापार वाणिज्य से आजीविका चलती है उन्हें लक्ष्मी का पूजन करना चाहिये। शूद्रों की सेवा से आजीविका चलती है उन्हें चातुर्वर्ण्य की सेवा रूप पूजा करनी चाहिये। वैश्यों की चार वृत्तियाँ है, खेती, व्यापार, गोरक्षा और व्याज। हम

केवल गोरक्षा ही करते हैं। शेष तीन काम अन्य वैश्य करते हैं। हमारी गौओं को घास, पानी, ईंधन, लकड़ी, फल फूल सब यह गिरिराज गोवर्धन देता है इसलिये इस गोवर्धन पर्वत को ही हम सबको मिलकर पूजा करनी चाहिये।"

यह भगवान् ने निष्काम कर्मयोग न बताकर केवल वर्णाश्रम धर्मानुसार कर्मयोग को ही शिक्षा दी। कर्म को ही श्रेष्ठ सिद्ध किया।

कहीं-कहीं कहा गया है—"सब कर्मों का कराने वाला ईश्वर ही है। ईश्वर जैसा कराना चाहता है, जीव वैसा ही कर्म करता है। जिसे ईश्वर ऊर्ध्वगति देना चाहता है-ऊपर ले जाना चाहता है, उससे शुभ कर्म कराता है। जिसे वह नीचे ले जाना चाहता है उससे अशुभ कर्म कराता है। यह जीव अपने सुख-दुख के भोग में अस्वतन्त्र है। यह अज्ञानी जीव ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक में जाता है।" यहां पर सब कर्तृत्व ईश्वर के ही मत्थे मढ़ दिया है। फिर तो जीव का कोई कर्तव्य ही नहीं रह जाता, किन्तु भगवान् ने आगे गीता में ही कहा है—"यद्यपि जीव हृदिस्थ ईश्वर की ही प्रेरणा से कार्य करता है, किन्तु फिर भी जीव में भक्ति करने की-शरण में जाने की-अपनी निजी इच्छा भी है इसलिये परमशान्ति की इच्छा वाले जीवों को भगवान् की ही शरण में जाना चाहिये। शरणागति से ही परमशान्ति संभव है, किन्तु यहां भगवान् एक दूसरी बात कहते हैं। जीव अज्ञान के कारण-माया के वशीभूत होकर-अविद्या के कारण-मोह को प्राप्त होता है। अतः अज्ञान को नाश कर दो ज्ञान स्वतः प्रकाशित हो जायगा। ज्ञान के आलोक में तुम्हें कौन वस्तु कहां पर है, अपने आप दिखायी देने लग जायगा।

बगीचे में फूल खिल रहे हैं, वे नाना रंगों के हैं, किन्तु वहां

अन्धकार है। इसमें सब वस्तुएं दिखायी नहीं देती। एक काली-सी धुन्ध ही धुन्ध दृष्टिगोचर हो रही है। जहां उस स्थान पर सूर्य का, चन्द्रमा का या अग्नि का प्रकाश फैल गया तो सब फूलों के रंग स्पष्ट दिखायी देने लगेंगे। कौन ग्रहण करने योग्य है कौन त्याज्य है, यह प्रकाश फैलने पर ही देखा जा सकता है। अतः बोध के लिये-आत्मज्ञान के लिये-मोहरूपी अज्ञान के नाश के लिये ज्ञानियों-गुरुओं-आचार्यों की शरण में जाना चाहिये। मुख्य कार्य है अज्ञान का नाश। गौ के गोबर के घने कंडे में अग्नि व्याप्त है, किन्तु उसके ऊपर राख जम गयी है, अग्नि दिखायी नहीं देती। तुमको न दीखने वाली अग्नि को प्रकाशित करने के लिये दूसरे स्थान से अग्नि लाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उस राख को झाड़ दो, उसमें से स्वतः अग्नि-अपने आप-चमकने लगेगी।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कि कर्मों में जीव को कौन प्रवृत्त कराता है। तब इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—अर्जुन! वास्तविक बात तो यह है, ईश्वर को क्या पड़ी है, कि एक से पाप करावे, दूसरे से पुण्य करावे एक को ऊर्ध्वगति दे, दूसरे को अधोगति प्रदान करावे। बहुत से जीव पाप करते हैं, बहुत से जीव पुण्य कर्म करते है। भगवान् न तो पाप वालों का पाप लेते है, न पुण्य वालों के पुण्य को ही ग्रहण करते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"फिर इस जीव को मोह ही कैसे गया? यह मोह में पड़कर ऐसे-ऐसे कर्मों को करता क्यों है?"

भगवान् ने कहा—अर्जुन! जीव में ज्ञान की ज्योति स्वाभाविक है। तुम चींटी को भी दबाओ तो, अपनी रक्षा के लिये तुम्हें काट लेगी। प्राणिमात्र को भले-बुरे का कुछ न कुछ ज्ञान रहता

ही है। ज्ञान और अज्ञान का जोड़ा है। जीव का जो स्वाभाविक ज्ञान है, वह अज्ञान से ढक जाता है। बस, अज्ञान से ढक जाने से ही जीव मोह में पड़कर अंट-सट काम करने लगता है।

अर्जुन ने पूछा—"इस अज्ञान का निवारण कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—बस, इसी का नाम तो साधन है। इसी को तो पुरुष का अर्थ अर्थात् पुरुषार्थ कहते है। आत्मज्ञान की इच्छा वाले का ही नाम जिज्ञासु है। जीव चार प्रकार के होतेहै। १–नित्य २–मुक्त ३–बद्ध और ४–मुमुक्षु। शास्त्र के उपदेश नित्य जीवों के लिये नहीं हैं मुक्त तो फिर मुक्त ही ठहरे। बद्ध जीवों के लिये भी शास्त्र के उपदेश नही। वे तो बद्ध हैं ही। समस्त उपदेश, समस्त साधन मुमुक्षु जीवों के ही निमित्त,हैं। अतः मुमुक्षु पुरुष को अज्ञान के हटाने का प्रबल प्रयत्न करते रहना चाहिये। आत्मज्ञान से अज्ञान का नाश अपने आप हो जायगा। चारों ओर अंधकार व्याप्त है आप जलती हुई मसाल लेकर आओ, तो आपको डंडा मारकर अन्धकार को भगाना नहीं पड़ेगा। अन्धकार वहाँ का वहीं अपने आप–स्वतः ही नष्ट हो जायगा। आप मसाल लेकर कोने-कोने में खोजो, तुम्हें कही भी छिपा हुआ अंधकार दिखायी न देगा। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान होने पर अज्ञान का लोप अपने आप हो जायगा। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष के सम्मुख यह ज्ञान सूर्य के समान आत्मतत्त्व को प्रकाशित कर देगा। उसे अपने स्वरूप का स्वतः ही बोध हो जायगा।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! हम कैसे जाने इसे आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया है। उनको वृत्ति कैसी हो जाती है, उन आत्मज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में हमें बताने की कृपा करें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन ने जब आत्मज्ञानी पुरुष

के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् ने जैसे आत्मज्ञानी के लक्षण बताये उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

जिनिको यह अज्ञान आतमा तत्त्व ज्ञान तैं।
ह्वै जावे जब नष्ट दूर हो मोह मान तैं॥
है अज्ञान अनादि सिद्ध तिहि ज्ञान भगावै।
है प्रबोध ततकाल नहीं मोहित कहलावै॥
ज्ञान-सूर्य जब उदित है, तम अज्ञान मिटाइकें।
बोध यथार्थ कराइकें, सब कछु देई दिखाइकें॥

समदर्शी का ही नाम पंडित है

[६]

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, १७, १८ श्लो०)

छप्पय

आतमाई सरवस्व सदा ज्ञानी मानै यह ।
मन कूँ करि तदरूप आतमा में राखै यह ॥
करै बुद्धि तदरूप नहीं कछु अन्य बिचारै ।
है. जावै तन्निष्ठ एक ही ब्रह्म निहारै ॥
ऐसे ज्ञानी पुरुष जो, ब्रह्म परायन अघ रहित ।
निश्चय पावैं परमपद, संतचित आनँद होहिं रत ॥

---

* जिनकी बुद्धि ब्रह्ममय है, जिनका मन तद्रूप है, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, जो तत्परायण हैं, जिन्होंने ज्ञान द्वारा पापों को धो डाला है, ऐसे पुरुष परमगति को प्राप्त होते हैं ॥१७॥

समदर्शी पंडित वही है, जो विद्या विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, हाथी में, कुत्ते में, और कुत्ता खाने वाले श्वपच में एक दृष्टि रखता है ॥१८॥

यह संसार वास्तव में बाँधने वाला नहीं। बन्धन का कारण तो अपना मन है। अपने मन की वृत्ति जैसे स्थान पर लगेगी। मन वैसा ही हो जायगा। मन तो स्वच्छ वस्त्र के सदृश है, उसे जैसे रंग में रंग दोगे वह वैसे हो रंग का दीखने लगेगा। संसार में शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पांच तन्मात्रायें हैं। एक-एक तन्मात्रा एक-एक इन्द्रिय का विषय है। जैसे शब्द है, यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, रूप है, चक्षु इन्द्रिय का विषय है। रस है, रसना इन्द्रिय का विषय है, गन्ध है, घ्राणेन्द्रिय का विषय है। स्पर्श है, यह त्वक् इन्द्रिय का विषय है। संसार विषय वासना युक्त है भगवान् विषय वासनाओं से रहित हैं। मन की वृत्तियाँ यदि संसारी विषयों में आसक्त रहेंगी, तो मन संसारमय हो जायगा। बारम्बार संसार में जन्म लेता रहेगा, मरता रहेगा।

आत्मा शब्द के अनेक अर्थ हैं। शरीर का भी नाम आत्मा है, अन्तःकरण को भी आत्मा कहते हैं और परमात्मा का बोध भी आत्मा शब्द से होता है, यदि देह में आत्मबुद्धि हो गयी है, तो ऐसे देहात्म बुद्धि वाले व्यक्ति को बारम्बार देह ग्रहण करना पड़ेगा, उसे अन्तःकरण चतुष्टय वाले शरीर में बार-बार आना पड़ेगा।

जो जिसका निरन्तर चिन्तन करता रहता है, उसके मन की स्थिति भी उसी में सदा स्थित रहती है। एक आदमी था, वह अनाज तोलने का काम करता था, स्वप्न में भी वह एकाराम दोईराम, तीनहीराम, चार ही राम! ऐसे गिनती गिना करत था, क्योंकि उसे गिनने का अभ्यास था, सोते समय उसकी स्थिति उसी में बनी रहती थी। इसलिये संसार में आसक्त पुरुषों की स्थिति भी संसार में ही सदा बनी रहती है और वे सदा नाना योनियों में इस संसार में आते जाते रहते हैं। संसारी लोगों की

जिस वस्तु में आसक्ति हो जाती है उस वस्तु को प्राप्त करने का वे सतत प्रयत्न करते रहते हैं। अपनी प्राप्तव्य वस्तु के चिन्तन में वे तदाकार हो जाते हैं। कामी की प्राप्तव्य वस्तु अपने मनोनुकूल कामिनी है; पुत्रार्थी की प्राप्तव्य वस्तु पुत्र है, धनार्थी की प्राप्तव्य वस्तु धन है। यशार्थी की प्राप्तव्य वस्तु यश है। अतः कामिनी, पुत्र, धन और यश ये सब संसारी वस्तुएं हैं, जिनका मन इन संसारी वस्तुओं में फंस गया; तो उनका संसार बंधन कभी समाप्त नहीं होता। बारबार ये वस्तुएं प्राप्त होती रहती हैं, बारबार इनका वियोग होता रहता है, फिर उन वस्तुओं की प्राप्तिका प्रयत्न करता रहता है। इसका नाम संसृति है। बारम्बार संसार में आना जाना, जन्म लेना तथा मरना है। ये संसार चक्र अज्ञान के कारण अज्ञानी पुरुषों को ही होता है, किन्तु जिन्होंने ज्ञान की तीक्ष्णधारा से अज्ञान का नाश कर दिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषों को संसार बंधन नहीं होता, क्योंकि उनके अन्तःकरण की वृत्ति संसार में न लग कर परमात्मा में ही लगी रहती है। वे आत्मा शब्द से शरीर तथा अन्तःकरण को ग्रहण न करके परमात्मा को ही आत्मा समझते हैं। उनकी स्थिति संसारी विषयों में न रहकर परमात्मा में ही बनी रहती है। उनकी प्राप्तव्य वस्तु संसारी भोग न होकर एक मात्र परमात्मा ही होते हैं। उनके मन में किसी प्रकार का कल्मष, मल, पाप, ज्वर अथवा अघ नहीं होता। वे निष्पाप यतिजन चरम शरीर वाले होते हैं, अर्थात् यह उनका अन्तिम शरीर होता है। इस शरीर के त्यागने के अनंतर वे फिर शरीर धारण नहीं करते। ज्ञान हो जाने पर प्रारब्धवश जब तक उनका शरीर रहता है, तब तक वे छोटे बड़े ऊँच नीच सभी प्राणियों में उसी परमात्मा का दर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि परमात्म मय बन जाती है, वे सर्वत्र उन्हीं की छटा निहारते

रहते हैं। ऐसे समदर्शी योगी इस विषम संसार में विरले ही होते हैं। उनके दर्शनों से ही कल्मष कर जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् आत्मज्ञानी पुरुष के लक्षण बता रहे है भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! संसारी लोगों में और आत्मज्ञानी पुरुष में आकाश पाताल का, अन्धकार प्रकाश का-सा अन्तर रहता है। संसारी लोगों के अन्तःकरण की वृत्ति संसार में रहती है, ज्ञानी पुरुष के अन्तःकरण की वृत्ति परमात्मा में ही रहती है। संसारी लोग देह को ही आत्मा मानकर कार्य करते है। ज्ञानी पुरुष परमात्मा को ही अपनी आत्मा समझता है। अज्ञानी पुरुषों की स्थिति संसारी विषयों में रहती है, ज्ञानी पुरुष की स्थिति सदा परमात्म तत्त्व में ही बनी रहती है। अज्ञानी पुरुषों की प्राप्तव्य वस्तु संसारी विषय ही है, किन्तु ज्ञानी का प्राप्तव्य स्थान परमात्मा ही है, क्योंकि पाप या कल्मष तो अज्ञान से ही होता है। वे मोक्ष के लिये यत्न करने वाले यति परब्रह्म का ही मनन करने वाले मुनि, ब्रह्म का ही चिंतन करने वाले ब्राह्मण, ज्ञान का ही अनुष्ठान करने वाले ज्ञानी पुरुष फिर शरीर धारण नही करते। शरीर की प्राप्ति तो सकाम कर्मों द्वारा वासनाओं से होती है। अज्ञान के कारण ही हृदय में ग्रन्थि पड़ जाती है। ज्ञान से उनकी वह हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, समाप्त हो जाती है। अज्ञान जनित जो संशय है, वह उन ज्ञानियों का नष्ट हो जाता है वे संशय रहित हो जाते हैं। उनकी संसार चक्र से मुक्ति हो जाती है, वे संसार रूपी चक्र में पुनः नहीं फंसते।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! ज्ञान हो जाने पर फिर ज्ञानी का शरीर नही रहता क्या? ज्ञान होते ही शरीर नष्ट होकर ज्ञानी तुरन्त मुक्त हो जाता है क्या?"

भगवान् ने कहा—देखो, ज्ञान हो जाने पर संचित और क्रियामाण कर्म जल जाते हैं, उनका नाश हो जाता है। हाँ प्रारब्ध कर्मों का अन्त तो शरीर के अन्त होने पर ही होता है। ज्ञान हो जाने पर भी बहुत से ज्ञानी जीवन्मुक्ति अवस्था में चिरकाल तक शरीर धारण करते रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—उनको तो कोई वासना नहीं, इच्छा नहीं, कुछ प्राप्त वस्तु नहीं, फिर उनको शरीर धारण करने की आवश्यकता क्या है?

भगवान् ने कहा—यह सत्य है. उन्हें कोई कर्तव्य नहीं अकर्तव्य नहीं। विधि नहीं, निषेध नहीं। कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं। फिर भी जब तक प्रारब्ध कर्म है तब तक उनके भोग के लिये शरीर रहता ही है।

अर्जुन ने पूछा—प्रारब्ध कर्मों के भोगने को जो कर्म शरीर से होते हैं, उनमें ज्ञानी की आशक्ति नहीं होती क्या? बिना आसक्ति से कर्म कैसे होते होंगे?

भगवान् ने कहा—"ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी को शरीरपने का अभिमान होता ही नहीं। प्रारब्ध के वशीभूत होकर कर्म अपने आप पूर्वकर्मानुसार होते रहते हैं जैसे कुम्हार अपने चाक में डन्डा डालकर उसे बड़े वेग से घुमाता है, कुछ समय के पश्चात् डन्डे को निकाल लेता है, फिर बिना डन्डा घुमाये चाक अपने आप तब तक घूमता रहता है, जब तक वह दुबारा डन्डा न डालकर न घुमावे। दुबारा डंडा न डालेगा तो वह थोड़ी देर तक तो बिना डंडा के ही घूमता रहेगा, अन्त में उसका घूमना अपने आप बन्द हो जायगा। यह प्रारब्ध रूपी डंडा ही इस शरीर रूपी चाक को घुमा रहा है ज्ञान हो जाने पर दुबारा डंडा नहीं लगाया जाता किन्तु जब तक पुराने डंडे का वेग समाप्त

न होगा, तब तक बिना डंडा लगाये भी चाक घूमता ही रहेगा। इसलिये प्रारब्ध कर्मों तक यह शरीर बना ही रहता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"हम कैसे जाने यह जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षण कृपा करके मुझे बता दें।"

भगवान् ने कहा—"देखो, जीवन्मुक्त पुरुष की मोटी पहिचान यह है, कि वह समदर्शी हो जाता है। यह उत्तम है, यह मध्यम है, यह अधम है यह उसकी भेद बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। ज्ञान दृष्टि से वह सब मे समान रूप से ब्रह्म का दर्शन करता है।"

ससार में सभी वस्तुओं में जीव है। निर्जीव या जड़ कोई पदार्थ नहीं। हाँ कहीं जीव व्यक्त है, कहीं अव्यक्त है। जो घोर तमोगुणी है, जैसे पर्वत आदि वहाँ जीव-प्राण संचार दीखता नहीं। जहाँ प्राणों का संचार घटना बढ़ना, सूखना हरा होना दीखता है, ऐसे जीव पाषाण आदि से श्रेष्ठ है। जैसे वृक्ष आदि। उन वृक्ष आदि प्राणधारियों से भी हाथी, कुत्ता आदि जो थोड़ा बहुत बुद्धि से काम लेते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। उन बुद्धि जीवियों से भी मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्यों में भी जो ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए हैं वे श्रेष्ठ हैं। उन जाति के ब्राह्मणों से भी वे श्रेष्ठ ब्राह्मण वह है जो विद्वान् है। उन विद्वान ब्राह्मणों में भी सर्वश्रेष्ठ वह ज्ञानी है जो विद्या विनय से सम्पन्न हो। उससे श्रेष्ठ संसार में कोई नहीं।

जीवन्मुक्त पुरुष सबसे श्रेष्ठ विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण में मध्यम जो गौ आदि पशु हैं अधम तमोगुणी जो हाथी, कुत्ता, चांडाल आदि हैं इन में कोई भेद भाव नहीं करता। उन सब में वह भगवान् को ही देखता है। यही जीवन्मुक्त पुरुष की विशेषता है। उसकी विषम दृष्टि समान हो जाती है। शरीर की

क्रिया तो उसकी अपने शरीर संस्कार के समान ही होती है, किन्तु उसकी दृष्टि में से भेद भाव सर्वथा हमाप्त हो जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! स्मृति शास्त्रों में तो सर्वथा भेद ही भरा पड़ा है। अमुक के हाथ का न खाना चाहिये, अपने से छोटे को नमस्कार न करना चाहिये। अपने से बड़ों को देखकर उठना चाहिये। पूज्य की पूजा करनी चाहिये। अपूज्यों की पूजा न करनी चाहिये। सभी वेद शास्त्र उत्तम, मध्यम, नीच का उनसे यथा योग्य व्यवहार का उपदेश करते है, फिर ज्ञानी ऐसा शास्त्र विरुद्ध आचरण क्यों करता है। वह ऊँचों में नीचों में एक सी दृष्टि क्यों रखता है ? क्या शास्त्र की आज्ञा उस पर लागू नहीं होती ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन की इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् जीवन्मुक्त पुरुष के और लक्षणों का जैसे वर्णन करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

ज्ञानी कबहुँ जीवमात्र में भेद न मानें।
आत्मा एक समान सबनि में व्यापे जानें॥
हाथी गज समान दीर्घ लघु भेद नहीं है।
होवे चाहे श्वान आतमा एक कही है॥
ज्ञानीजन विद्या विनय—युक्त विप्र चण्डाल में।
भेदभाव मानत नहीं, समदर्शी सब काल में॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (१)

(१०)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥*

(श्री० भग० गी० ५ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

जिनको मन समभाव माहिँ नित होंहि अवस्थित।
देह त्यागिकें नहीं करें जय जगकूँ जीवित॥
शोक मोह तें रहित रहें सब में प्रभु जानें।
जीवमात्र में दोष न देखें सब सम्मानें॥
ब्रह्म सच्चिदानंदघन, सम है अरु निरदोष है।
रहैं अवस्थित ब्रह्म में, तिनिहिँ आत्मसन्तोष है॥

---

* जिनका मन समभाव में स्थित हो गया है। उन्होंने इस लोक में ही संसार को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है। इसलिये समदर्शी ब्रह्म में ही स्थित है॥१९॥

जो प्रिय को पाकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय को पाकर जिसे उद्वेग नहीं होता, ऐसा स्थिर बुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म में ही स्थित है॥२०॥

विषमता ही बन्धन का कारण है, और समता से ही मुक्ति सम्भव है। बिना समभाव हुए मुक्ति सम्भव नहीं। आप जब तक नीचे रहेंगे तब तक आपको भान होगा, कि यह स्त्री है, यह पुरुष है। यह पापी है, यह पुण्यात्मा है। यह शत्रु है, यह मित्र है यह उदासीन है। किन्तु जहाँ आप बहुत ऊँचे पर्वत पर चढ़कर या बहुत ऊँचे उड़ते हुए वायुयान में बैठकर देखेंगे, तो आपका भेद-भाव दूर हो जायगा। वायुयान से नीचे राजपथ पर चलते हुए नर-नारी तुम्हें एक समान ही दृष्टिगोचर होंगे उनमें आप यह भेदभाव नहीं कर सकते कौन स्त्री है कौन पुरुष, कौन परिचित है कौन अपरिचित। कौन शत्रु है, कौन मित्र। सभी आपको समान रूप से सड़क पर रेंगते हुए; चलते हुए छोटे-छोटे जन्तु ही दिखायी देंगे। इसी प्रकार जब जीव माया मोह तथा अविद्या में ग्रसित होकर नीचे स्तर से देखता है, तो उसे जीवों में भेदभाव दिखायी देने लगता है। वही जब ज्ञान प्राप्त करके अविद्या का नाश करके ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त बन जाता है, तो उसका भेदभाव नष्ट हो जाता है, फिर चाहे वह निष्काम भाव से कर्म करता रहे, चाहे सब कर्मों से निर्मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरता रहे उसके ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा न पड़ेगी, वह समदर्शी बन जायगा।

एक ऋषिकुमार ने अपने गुरु से पूछा—महाराज ! हम राजर्षि जनक की बड़ी प्रशंसा सुनते हैं; वे जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी हैं। ब्रह्मज्ञानी होकर वे राजपाट के झमेले में क्यों पड़े रहते हैं। इतने भारी राज्य का शासन करते हुए वे समदर्शी कैसे हो सकते हैं।

गुरु ने कहा—अच्छा, चलो "हम तुम्हें राजर्षि की समता का दर्शन कराते हैं।" यह कहकर दोनों गुरु-शिष्य जनक की राजधानी की ओर चले। रात्रि हो गयी थी। सब लोग शयन कर रहे

थे। द्वारपालों से ऋषि ने कहा—हमें महाराज से बहुत आवश्यक कार्य है; द्वारपाल जानते थे, ऋषि ब्रह्मज्ञानी हैं महाराज की सभा में आते जाते रहते हैं, ब्रह्मज्ञानियों के लिये राजमहल में कहीं रोक टोक नही थी। दोनों भीतर चले गये। अन्तःपुर में जहाँ महाराज राजमहिषी के साथ शैया पर शयन कर रहे थे, वहाँ दोनो पहुँचे। महाराज का अन्तःपुर शयन कक्ष बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित था। रत्नों के प्रकाश से वह कक्ष जगमग जगमग करके प्रकाशित हो रहा था। एक बहुमूल्य शैया पर महाराज अपनी राजमहिषी के साथ शयन कर रहे थे। उनका एक हाथ पलंग के नीचे लटक रहा था, दूसरा हाथ चंदन कुंकुम से चर्चित राजमहिषी के वक्षःस्थल पर विराजमान था। महाराज महिषी के वक्ष को धीरे-धीरे दबा रहे थे।' शिष्य ने कहा—"भगवन्! किस विषयी के पास ले आये। यह तो संसारी भोग विलास में रत है, शीघ्र ही यहाँ से चलिये, ऐसा विषयी ब्रह्मज्ञानी भला कैसे हो सकता है।"

ऋषि ने शिष्य से कहा—"थोड़ी देर ठहरो तो सही समीप में जो यह आग जल रही है वहाँ से जलते हुए दो कोयले तो उठा लाओ।" शिष्य ने ऐसा ही किया। दो बड़े-बड़े प्रज्वलित कोयले उठा लाया। एक पात्र मे रख कर।

गुरु ने कहा—"राजा के दूसरे पलंग से लटकते हुए हाथ में इन कोयलों को रख दो।"

शिष्य ने गुरु की आज्ञा का पालन किया। जलते हुए कोयले राजा के हाथ पर रख दिये। राजा बिना बाधा के उन कोयलों को भी उसी प्रकार दबाने लगा। तब गुरु ने कहा—राजा के लिये कुंकुमचन्दन से चर्चित राजमहिषी का वक्षःस्थल और प्रज्वलित अग्नि के अंगारे दोनों समान हैं; उनकी दृष्टि में दोनों

में कोई भेद नही। इसलिये ये राजर्षि जीवन्मुक्त समदर्शी हैं।

इसी प्रकार जड़ भरतजी को उनके भाइयों ने पके हुए खेत को रखाने के लिये उन्हें मंच पर बिठा दिया था, वही आनन्द से बैठे पक्षियों को देखते रहे। जब वृषल राजा का बलिपशु भाग गया, तो नौकर बलिपशु की खोज में आये और इन्हें बलिदान के लिये ले गये। बिना किसी प्रकार की आपत्ति किये वे उनके साथ चले गये। बलिदान करने वालों ने उन्हें स्नान कराया, लाल नये वस्त्र पहिनाये, बिना आपत्ति के सब कुछ करते गये। वे समझते थे, मेरी बलि होगी, किन्तु वे समदर्शी तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके आगे मिठाई रखी गयी मृत्यु सम्मुख प्रत्यक्ष दिखायी देने पर भी भर पेट मिठाई उड़ाई। जब पुरोहित खड्ग लेकर उनका बलिदान करने लगे तो सिर नीचा कर दिया। किन्तु देवी इतने भारी ब्रह्मज्ञानी के तेज को न सह सकी। इतने समदर्शी की बलि ग्रहण करने की तामसी देवी में शक्ति ही नही थी, उसने प्रकट होकर पुरोहित दस्युराज सब को मार दिया। ये महात्मा बिना हर्ष विशाद के वहां से चल दिये। जंगलों में विचरने लगे। उसी समय सिन्धु सौवीर देश के राजा की पालकी का कहार बीमार हो गया। कहारों के चौधरी ने इन्हें हृष्ट-पुष्ट देखकर कहारों के साथ इन्हें पालकी मे लगा दिया, तो ये कहारों के साथ-साथ पालकी ढोने लगे। कैसी समता है। जीवन्मुक्त पुरुष यह नहीं देखते यह नीच है या ऊंच उनकी दृष्टि तो सभी में सम ही रहती है।

एक परमहंस जी रात्रि में विचरण कर रहे थे। उधर से कुछ चोर चोरी करने जा रहे थे। हृष्ट-पुष्ट परमहंस को देखकर बोले—"तुम कौन हो ?"

परमहंसजी ने कहा—जो तुम हो वही हम हैं।

चोरों ने कहा—तुम यहाँ जंगल में क्यों घूम रहे हो ?

परमहंस बोले—"जैसे तुम घूम रहे हो वैसे ही हम भी घूम रहे हे।"

चोरो ने कहा—"हम तो चोर हैं, चोरी करने जा रहे हैं। तुम भी हमारे साथ चलोगे ?"

परमहंस ने कहा—"चलो।"

यह कह कर परमहंसजी चोरो के साथ चल दिये। एक गाँव मे जाकर एक धनिक के यहाँ सेंद लगायी। "चोर लोग चोरी करने जाते है, तो कुछ तो भीतर घुस जाते है, एक दो को पहरे पर खड़ाकर जाते है, कि कोई शंका वाली बात हो, तो वह भीतर वालों को सचेत कर दे।" इन परमहंस को नया ही चोर समझ-कर इन्हें पहरे पर खड़ा कर दिया और एक सीटी इनके हाथ में देते हुए चोरों ने कहा—"कोई शका हो, कोई आता हुआ आदमी दिखायी दे, तो तुम इस सीटी को वजा देना।"

परमहंसजी ने 'वहुत अच्छा" कहकर स्वीकार किया। वे ज्यों ही भीतर घुसे कि परमहंसजी सीटी बजाने लगे। चोर शीघ्रता से सेंद मे निकलकर भागे। परमहंसजी भी उनके पीछे-पीछे भागे। दूसरे गाँव में फिर सेंद लगाई उनके घुसते ही परम-हंसजी सीटी बजाने लगे। चोर तुरन्त निकल आये। चारों ओर देखकर बोले—"तुम बड़े खराब आदमी हो, न तो कोई आदमी आ रहा है, न कोई हमें देख ही रहा है। न कोई आशंका की बात ही है, फिर तुमने सीटी क्यों वजाई।"

परमहंसजी ने कहा—"भाई, सबका साक्षी, घटघटवासी परमात्मा तो सबके कामों को देख ही रहा है। चोरी जैसा कार्य करोगे तो नरक में नहीं जाओगे। नरक की आशंका तो सबसे बड़ी आशंका है। जिसका धन ले जाना चाहते हो, उसे भी तो

सचेत कर देना चाहिये।

परमहंसजी की इस समदर्शिता का उन चोरों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने चोरी करना सदा के लिये छोड दिया। इसीलिये कहते हैं समदर्शी के लिये सभी सम हैं, सभी बराबर हैं वह भेदभाव से रहित होकर स्वच्छन्द रीति से संसार का व्यवहार करता है, अथवा निर्द्वंद्व होकर पृथ्वी पर विचरण करता रहता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! तत्वदर्शी जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी महापुरुष के सम्बन्ध में बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"पार्थ! जिसका मन सम भाव में स्थित हो गया है उसे शरीर के अन्त होने के अन्तर मुक्ति प्राप्त होगी सो बात नहीं। वह तो इसी लोक में जीता हुआ ही मुक्त है। वह तो संसार पर विजय प्राप्त करके इसी संसार में विजय का झंडा गाड़कर जीते हुए ही मुक्ति रूपी परमानन्द का आस्वादन करता रहता है। उसे मुक्ति की प्रतीक्षा नहीं करनी पडती। मुक्ति तो उसके पीछे-पीछे हाथ जोड़ती हुई अनुनय विनय करती हुई घूमती रहती है। उसमें संसारी दोष रहते ही नहीं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! संसार तो दोषों की खानि है। संसार में सर्वत्र विषमता ही विषमता है। इस विषम संसार में स्थित प्राणी उसके दोषों में लिप्त न हो, यह तो असंभव है। काजर की कोठरी में कैसा भी सुजान पुरुष बच बचकर जाय। कुछ न कुछ कालिख तो उसे लग ही जायगा। इसी प्रकार विषम संसार में स्थित प्राणी समदर्शी कैसे हो सकता है?

भगवान् ने कहा—अरे, अर्जुन जिसने ज्ञान के द्वारा अज्ञान को भगा दिया है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी पुरुष विषम संसार में स्थित न होकर वह तो सदा सर्वदा ब्रह्म में ही स्थित रहता है, उसकी

वृत्ति तो निरन्तर ब्रह्ममयो ही बनी रहती है। ब्रह्म में कोई भी दोप नहो वह सदा सवदा निर्दोप है। ब्रह्म में कोई विपमता नहीं वह सदा सम है। ऐसा ज्ञानी पुरुप जो निर्दोप सम ब्रह्म में स्थित रहता है उसका विपम संसार विगाड़ ही क्या सकता है। वह तो जल में कमल के समान सदा निर्लेप ही वना रहता है।

अर्जुन ने पूछा—"उस ब्रह्मज्ञानो पुरुप की स्थिति कैसी होतो है।"

भगवान् ने कहा—"ऐसा ब्रह्मज्ञानी समदर्शी जीवनमुक्त पुरुप इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों को पाकर परम प्रहर्पित नहीं होता, इसके प्रतिकूल इन्द्रियों को अच्छे न लगने वाले विपयों को पाकर उद्विग्न भो नहीं होता। चिन्ताग्रस्त होकर शोकाकुल या दुखो भो नहो होता। यह उसकी सम वुद्धि की पहिचान है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ऐसी उसमें कौन-सी विशेपता है?"

भगवान् ने कहा—देखो भाई, एक तो उसको बुद्धि स्थिर रहतो है। अस्थिरता में हो दुःख सुख को अनुभूति होती है। स्थिर वुद्धि वाले सभी घटनाओं में समभाव से बने रहते हैं। दूसरे दुःख का कारण जड़ता या मूढ़ता हैं। मूढ़ता में ही सम्मोह होता है, वह पुरुप मोह से रहित होकर ब्रह्मविद् बन जाता है। मोह के क्षय का ही नाम मोक्ष है, वह सदा सर्वदा, ब्रह्मभाव में ही भावित रहने के कारण ब्रह्म रूप में अवस्थित रहता है। जब उसे संसार से कोई प्रयोजन ही नही, तव तो कालिख लगने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अर्जुन ने पूछा—आनन्द का हम नाम ही सुनते हैं। जब तक इसकी अनुभूति जीव को न हो तव तक वह उसके स्वाद से

वंचित ही रह जाता है। ये जो संसारी पदार्थ हैं, इनमें प्रत्यक्ष सुख दिखाई देता है, आत्मज्ञानी इन विषय के सुखों में क्या समझकर उदासीन बना रहता है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् जो ब्रह्मज्ञानियों के और लक्षण बताते हुए इन बातो का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आप से आगे करूंगा। यह विषय बड़ा गूढ़ है, इसे सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर्मुख विचार न करना चाहिये क्योंकि बिना श्रवण, मनन और निदिध्यासन के आत्म साक्षात्कार होता नहीं है।

छप्पय

कौन ब्रह्म में नित्य अवस्थित प्रश्न भयो जब।
ज्ञानी को जो रूप बतावैं कृष्णचन्द्र तब॥
प्रिय पदार्थ कूं पाइ न ज्ञानी हरषित होवे।
होहि नहीं उद्विग्न अप्रिय लखि जो नहिं रोवे॥
ज्ञानी इस्थिर बुद्धि वह, रहै नित्य आनन्द में।
ब्रह्मलीन संशय रहित, थिती सच्चिदानन्द में॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (२)

[११]

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ० २१, २२ श्लोक)

छप्पय

बाह्य विषय में नहीं कबहुँ आसक्ति लखावे ।
अन्तःकरन विशुद्ध बनै ज्ञानी कहलावै ॥
आत्मा में ही रमन करै अति आनँद-पावै ।
आत्मज्ञान जिनि भयो तिनहिँ सुख सत्य दिखावे ॥
ब्रह्मयोग तैं युक्त जो, आत्मानन्द निमग्न जन ।
अक्षय सुख पावे वही, होवै तिहि विचलित न मन ॥

---

* बाहर के जो भोग विषय हैं, उनमे जिसका अन्तःकरण आसक्ति रहित है। जो आत्मा मे ही सुख प्राप्त करता है, वह ब्रह्मयोग युक्तात्मा पुरुष अक्षय सुख की अनुभूति करता है ॥२१॥

जितने भी ये इन्द्रिय स्पर्शजन्य सुख भोग हैं, वे सबके सब दुखदायी हैं, अनित्य हैं। हे कौन्तेय! बुद्धिमान् पुरुष उनमे रमण नहीं करते ॥२२॥

सुखानुभूति स्पर्श के द्वारा ही होती है। अपनी प्रिय वस्तु का जब हमारी इन्द्रियों से स्पर्श होता है, तभी सुख की उपलब्धि होती है। और इन्द्रियों के गोलक तो बंधे हुए हैं। देखना आँखों से ही होगा, सुनना कानों के छिद्रों द्वारा ही होगा, रस का आस्वादन रसना इन्द्रिय से ही होगा। सूंघने का काम नासिका छिद्रों द्वारा ही होगा, किन्तु स्पर्शेन्द्रिय सभी अंगों में व्याप्त है। आप देखते नहीं, फिर भी आपकी पीठ पर कोई चींटी चले, तो स्पर्श के ही द्वारा आपको ज्ञात हो जायगा, जोई जीव पीठ पर चल रहा है, हाथ तुरन्त जाकर उसे हटा देगा। शरीर के अंग चाहे पीठ की ओर हों, या पेट की ओर सभी स्थानों पर स्पर्शेन्द्रिय ही सुख दुःख की अनुभूति करेगी। यहाँ तक कि अन्य इन्द्रियों में भी स्पर्शेन्द्रिय ही अधिक कार्य करती है। विषयों का इन्द्रियों के साथ जब संयोग होता है, तभी अपने आपको दुःख अथवा सुख की अनुभूति होती है। आप कहेंगे, जिन वस्तुओं को हम स्पर्श नहीं करते, उनसे भी दुःख सुख होता है। कोई परम सुन्दर व्यक्ति है, वह हमसे बहुत दूर है, हमारी त्वचा ने उसके शरीर का स्पर्श नहीं किया है, फिर भी उसके सौन्दर्य के कारण हमें सुखानुभूति होती है, यह क्या बात है। तो इसका उत्तर यही है कि स्पर्श के लिये कोई त्वचा का छूना आवश्यक नहीं। आपकी दृष्टि जहाँ तक जा सकती है, उस दृष्टि का जिस-जिस वस्तु से स्पर्श हो सकता है, उस दृष्टि स्पर्श से ही सुख-दुख की प्रतीति होने लगेगी। दूर खड़े अपने सगे सम्बन्धी, शिशु या महिला के शरीर से हमारी दृष्टि का स्पर्श हुआ उसी से सुख-दुख का अनुभव होने लगेगा।

आप कहेंगे कि बहुत सी वस्तु ऐसी हैं, जिन्हें हमारी स्पर्श नहीं करती, फिर भी उन वस्तुओं से हमें सुख-दुख

है। हम सडक के किनारे-किनारे जा रहे हैं। सड़क के किनारे प
वहुत से वगीचे लगे हैं, उनकी वड़ी ऊँचो-ऊंची दीवालें उठी है
हम देख भी नहीं सकते इनमें किनके वृक्ष हैं, किन्तु रात्रि में ज
रहे हैं. रजनी गन्धा की सुगन्धि आ रही है, चित्त प्रसन्न हो
जाता है, किसी वगीचे में से गुलाब की, चम्पा की, पारिजात की
माधवी की, मालती की, मल्लिका की, माधुरी की सुगन्धि आ रही
है चित्त प्रफुल्लित हो जाता है, कड़ी सियार का शरीर सड़ा हुआ
पड़ा है, उसके कारण हमें दुःख होता है, नाक बन्द कर लेते हैं
कहीं कोई सुन्दर गाना गा रहा है, चित्त झूमने लगता है, यद्यपि
गाने वाले को हम देख नहीं सकते। यह क्या बात है।

वात यह है कि पुष्पों की गन्ध का जब आपकी घ्राणेन्द्रि
से स्पर्श होता है तभी आपको सुख होता है। वायु में सड़े प्राणं
के शरीर की दुर्गन्धि फैल जाती है, उस दुर्गन्ध युक्त वायु क
आपकी घ्राणेन्द्रिय से स्पर्श होता है इसी से दुःख होता है
दीवाल के भीतर कोई गा रहा है, चारों ओर से किवाड़ें बन्द है
किन्तु उसकी वाणी खिड़के छिद्रों से निकल कर वायु में फै
जाती है और उस गायन स्वर का स्पर्श जब तुम्हारी कर्णेन्द्रि
से होता है, तो कान जाकर हृदय से कहता है, तो वह वेदन
हृदयस्पर्शी हो जाती है, उसी से हृदय को सुख-दुख की अनुभूति
होती है। इसलिये सुख-दुख में विषय और इन्द्रिय का संयो
आवश्यक है। वह स्पर्श चाहे त्वचा से त्वचा का हो, या शब्द
का कर्ण से हो, रूप का चक्षु से हो, या गन्ध का घ्राण से हो, य
विषयों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन, मन, बुद्धि, चित्त औ
अहंकार से हो तभी सुख-दुख की अनुभूति होगी। वस्तु दं
प्रकार की हैं, वाह्यवस्तु और अन्तः की वस्तु। बाहर के जित
शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जन्य विषय हैं, वे सबके स

बाह्यस्पर्श जन्य वस्तु हैं और अन्तः की वस्तु तो ब्रह्म या आत्मा है। बाहर की जितनी वस्तुयें हैं, वे सबको सब नाशवान् क्षयिष्णु हैं अन्तर को जो अन्तरात्मा है, वह अविनाशी और नित्य है। जो वस्तु जिससे बनेगी वह उसी के गुणवाली होगी। जैसे मिट्टी के बने घड़े, सकोरे, खिलौने आदि होंगे वे सब मिट्टी के गुणवाले होंगे, मृण्मय कहलायेंगे। सुवर्ण की बनी जितनी वस्तुएं जजीर, कंकण, अंगूठी, हार आदि होंगे वे सब सुवर्ण के आभूषण और सुवर्ण के गुणवाले, सुवर्ण के मूल्योंवाले होंगे। इसी प्रकार विनाशशील पदार्थों से जो सुख उत्पन्न होगा विनाशी और अनित्य क्षयिष्णु होगा। अविनाशी आत्मा के स्पर्श से जो सुख होगा वह अविनाशी, शाश्वत, सत्य तथा सदा रहने वाला होगा। इसीलिये भगवान् ने आगे कहा है कि यत्न करने वाला योगी "ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंन्तं सुखमश्नुते।" ब्रह्मसंपर्शमश्नुते।" वह ब्रह्म का स्पर्श पाकर अत्यंत सुख का अनुभव करता है। ब्रह्म का स्पर्श तभी प्राप्त होगा, जब मन इन बाह्यस्पर्शों से विरक्त हो जाय। बाह्य-पदार्थों मे संसारी विषय भोगों में सुख बुद्धि न हो।

अब एक प्रश्न और उठता है। ब्रह्म को या आत्मा को तो हमने न कभी देखा है, न उसके स्पर्श का कभी अनुभव किया है। संसारी सुखों को तो न जाने हम कितने जन्मों से अनुभव करते आ रहे है। जन्म जन्मान्तरों के अनुभव हमारे अन्तःकरण में संचित हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि की शिक्षा नहीं देता जन्मान्तरीय संस्कारों से जीव स्वतः ही इनमें अपने आप प्रवृत्त हो जाता है। आत्मसुख का तो जीव ने कभी अनुभव ही नहीं किया, अतः जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो विषय भोगो में ही होगी, उसे आत्मसुख का अनुभव तो असंभव है।

इस पर कहते हैं। आत्मा तो सुखस्वरूप है ही, वह तो शुद्ध

सनातन है ही। शरीर संयोग के कारण और विषयों में राग हो जाने के कारण ही यह अपने स्वरूप को भूल गया है। यथार्थ सुख को न पाकर नकली सुख के पीछे पड गया है। संसारी विषयों में सुख नहीं सुखाभास है, तनिक-तनिक सुख का आभास होता है, भोग की इच्छा प्रबल होने का नाम ही राग है। राग के वशीभूत प्राणी ही विषयों में प्रवृत्त होता है उनका उपभोग करता है। उन पदार्थों में सच्चा सुख तो है नहीं, अतः उन पदार्थों के पाने में-विषयों को प्राप्त करने में-बडा क्लेश उठाना पड़ता है, दूसरों को दुःख पहुँचा कर ही विषय सुख प्राप्त होते हैं, इसलिये उनका परिणाम भी दुःखद ही होता है। विषयों को भोगते समय क्षण भर के लिये सुख का आभास होता है, किन्तु अन्त में तो वियोग के कारण दुःख ही होता है। जिसके आदि में भी दुःख हो और अन्त भी दुःखदायी हो उसके मध्य में भला सुख कैसे हो सकता है। इसीलिये विषयों के उपभोग से आज तक कोई तृप्त नहीं हुआ, उसके पास चाहे विषयों के उपभोग की कितनी भी प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ क्यों न रही हों। महाराज ययाति विषयों को भोगते-भोगते बूढ़े हो गये। फिर भी उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं हुई। तब अपने पुत्र की युवावस्था लेकर उसे अपनी वृद्धावस्था देकर फिर संसारी विषयों का सहस्रों वर्षों तक उपभोग किया, फिर भी जब शान्ति प्राप्त नहीं हुई, अपितु काम-वासना और अधिक बढ़ती ही गयी, तब उन्होंने अन्त में यही निष्कर्ष निकाला—"उपभोग से कामवासना तृप्त नहीं होती, किन्तु जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने पर वह अधिकाधिक बढ़ती ही है, वैसे ही उपभोग से कामनायें और प्रज्वलित होती हैं, इसलिये विषयों से उपरत होकर आत्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिये।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषों के लक्षण बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन ! यथार्थ सुख का अनुभव तो जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष ही करता है, बाह्य-विषयों में आसक्त प्राणी तो तन्मात्राओं में ही सुख खोजता रहता है, किन्तु बाहरी विषयों में भला सच्चा सुख कहाँ ?

अर्जुन ने पूछा—"तब सच्चे सुख के लिये साधक को क्या करना चाहिये ?

भगवान् ने कहा—"शब्द, रूप, रस, गन्ध और बाह्यस्पर्श रूपी विषयों में चित्त को आसक्त न होने देना चाहिये। इन विषयों में सदा अनासक्त बने रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"बाह्यविषयों में आसक्ति न रखने से उनमें भोगेच्छा न रखने से क्या होगा ?"

भगवान् ने कहा—तब उसे अनन्त सुख की उपलब्धि होगी। बाह्यविषयों से मुख मोडने वाले पुरुष का ही चित्त समाधियुक्त होता है। उस समाधि द्वारा ही उसकी ब्रह्म में तन्मयता होती है और तभी ब्रह्म का स्पर्श होता है, ब्रह्म साक्षात्कार होता है। जब तक चित्त बाह्यविषयों में आसक्त बना रहेगा, उसे ब्रह्म साक्षात्कार नही हो सकता।"

अर्जुन ने पूछा—आत्मा में अक्षय सुख का अनुभव होता कैसे है ?

भगवान् ने कहा—"आत्मा में अक्षयसुख का अनुभव होता है, बाह्यविषयों में जो सुख की भावना है, उनमें जो आसक्ति है उसके छूट जाने पर।"

अर्जुन ने पूछा—"बाह्यविषयों की आसक्ति दूर कैसे और कब होती है ?"

भगवान् ने कहा—"वह आसक्ति तो आत्मसुख का अनुभव

करने से ही दूर होगी। यदि तुम इन्द्रियों को उनका आहार मत दो। निराहार रह जाओ। तो उस समय इन्द्रियों और विषयों का संयोग न होने से विषयों से तो वह बचा रहेगा, किन्तु विषयों में जो एक प्रकार का रस है-अनुराग है, उनके उपभोग की इच्छा है, वह आसक्ति तो बनी ही रहती है। वह आसक्ति तो आत्म-दर्शन से ही दूर होगी।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, यह तो वृक्ष और बीज वाली बात हो गयी। किसी ने पूछा-बीज पहिले हुए या वृक्ष।"

किसी ने कहा—"बीज से ही वृक्ष होता है, अतः पहिले बीज ही हुआ।"

तब दूसरे ने पुनः प्रश्न किया—"बीज भी तो वृक्ष से ही होता है, वृक्ष न हो तो बीज उत्पन्न ही कैसे होगा, अतः बीज से पहिले तो वृक्ष का ही होना सिद्ध होता है।"

इसी प्रकार जैसे वृक्ष और बीज की उत्पत्ति अन्योन्याश्रित है, उसी प्रकार बाह्यविषयों की आसक्ति दूर होने पर आत्मसुख का अनुभव होगा। और आत्मा में अक्षयसुख का अनुभव करने पर विषयों की आसक्ति दूर हो जायगी। तब तो इनमें से एक भी सिद्ध नहीं हो सकता।

इस पर भगवान् ने कहा—"तुम सत्य कहते हो, यद्यपि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। तथापि विषयों के प्रति वैराग्य वृत्ति रखने से और उनमें दोष दृष्टि का अभ्यास करने से शनैः-शनैः अपने आप मन विषयों से उपरत होने लगेगा। विषयों से उपरत हुए मन में आत्मसुख की अनुभूति होने लगेगी।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! विषयों के प्रति आसक्ति तो जन्म जन्मान्तर से चली आ रही है, मन विषयों में आसक्त हो जाता है, और विषय मन में रम जाते हैं विषयों का ध्यान करने से मन

तदाकार हो जाता है, फिर मन को विषयों से हटाया कैसे जाय ?

भगवान् ने कहा—"देखो, मन विषयों में तभी जाता है, जब विषयों में सुख की भावना हो। ये विषय सुख देने वाले हैं, ऐसा निश्चय हो तभी मन जाता है। साधक को सबसे पहिले विषयों में दोष-दृष्टि रखनी चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—दोष-दृष्टि कैसे रखे ?

भगवान् ने कहा—"इस बात का सतत अभ्यास करते रहना चाहिये, इस बात को सदा सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि इन्द्रियों और विषयों के संयोग से जो-जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भोग सुखद न होकर दुखद ही हैं। जैसे किसी अच्छी सुन्दर स्वादिष्ट मिठाई को देखकर मन ललचा गया। मन में यह इच्छा हुई, कि यह मिठाई मुझे खाने को मिल जाय, तो बडा आनन्द आवे, बहुत सुख मिले।" यह सोचकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया। प्रयत्न करने में भी बहुत दुःख उठाना पड़ा। किसी प्रकार वह प्राप्त हो गयी, थोड़ी मात्रा में प्राप्त हुई, तो वासना और बढ़ गयी, उसकी प्राप्ति के लिये अनेक दुःख उठाने पड़े। यदि बहुत मात्रा में प्राप्त हो गयी और अधिक खा गये, तो उससे भाँति-भाँति के उदर सम्बन्धी रोग हो गये। नाना क्लेश उठाने पड़े। इसलिये उनके प्राप्त होने के पूर्व भी दुःख और प्राप्त हो जाने के अनन्तर उपभोग के पश्चात् भी दुःख है, तो उपभोग काल में भी कौन-सा सुख मिल सकता है। अतः विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो भोग प्राप्त होते हैं, वे दुःख के ही कारण हैं, क्योंकि वे आद्यन्त है। उनका आदि भी है और अन्त भी है। आरम्भ भी है नाश भी है। जितने नाशवान् पदार्थ हैं, वे सब दुख देने ही वाले होते है। हे कुन्तीनन्दन ! जो विषयवासना में आसक्त पुरुष हैं, वे ही इन विषयों में प्रीति करते हैं। जो बुधजन है, विवेकी पुरुष हैं, पंडित

हैं, विद्वान् हैं, वे इन विषयों में कभी रमण नहीं करते।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! विषयों से मन को सर्वथा उपरम करना बहुत कठिन काम है। मन तो विषयों की ओर बिना प्रयत्न के स्वतः ही दौड़ता रहता है।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! यह जो वाह्यविषयों के प्रति आसक्ति है, अनुराग है यही समस्त अनर्थों की जड़ है, कल्याण-मार्ग का यही एक प्रति पक्षी घोर शत्रु है, यह राग अत्यन्त कष्टमय है, यह साधारण उपायों से दूर होने वाला नहीं। बहुत से लोग बहुत जन्मों तक प्रयत्न करते रहते हैं, तब कहीं जाकर किसी चरम-शरीर में यह रोग दूर होता है। इसीलिये मुमुक्षु को प्रबल प्रयत्न के द्वारा इसे दूर करना चाहिये। शरीर के छूटने के एक क्षण पहिले भी यह विषयानुराग छूट जाय तो समझो वह पुरुष कृतार्थ हो गया, धन्य बन गया। जो इस शत्रु को मारकर उस अक्षय सुख को प्राप्त कर लेते हैं, वास्तव में वे ही सच्चे सुखी हैं। यह एक प्रकार का आवेग है। इसकी निवृत्ति का विधान तुम्हें मैं समझाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवान् इस विषयासक्ति का हटाने का जो उपाय बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जितने जगके भोग विषय इन्द्रिय सँयोगतैं।
सुखकर अतिशय लगें विषय अनुकूल भोगतैं॥
किन्तु होहि सुख नहीं जथारथ दुःख हेतु ये।
होवे इनिको आदि अन्त दुख हैं अनित्य ते॥
नहीं रमन तिनिमें करैं, अरजुन ! ज्ञानीजन कबहुँ।
मिलै भोग त्रिभुवन सकल, विचलित होवैं नहिँ तबहुँ॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (३)

[१२]

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥*॥

(श्री भग० गी० ५ अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

एक जनम में जीवन रहते ज्ञान कठिन है।
जग के असम भोग फँस्यो तिनिमें नित मन है॥
काम क्रोध को वेग प्रबल दुरजय जो भोगी।
देह त्याग तें प्रथम सहन में समरथ योगी॥
उभय वेगवश भये जे, वे ही जग में दुखी हैं।
जीवित जिनि जे वश किये, वेई योगी सुखी है॥

---

* जो पुरुष शरीर छोड़ने के पहिले, काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन करने मे समर्थ है, वही वास्तव मे योगी है और वही सुखी है ॥२३॥

जो अपने आप मे सुखानुभूति करता है, जो आत्मा मे आराम वाला है, जो अन्तर्ज्योति है, वह ब्रह्मभूत हुआ योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है ॥२४॥

संसार में बन्धन के हेतु दो ही हैं, कामिनी और कांचन। कामिनी उसे कहते हैं, जो धर्म के विरुद्ध विषय वासना में प्रेरित करे। कांचन उसे कहते हैं जो राजकीय मुद्राङ्कित हो। एक रुपये में इतना सोना चाँदी या धन मिलेगा। इसलिये रुपया, सोना, चाँदी आदि धातुएँ सब कांचन या धन के अन्तर्गत है। मुद्रा चाहें सुवर्ण की हो या चाँदी, ताँबा आदि धातु की अथवा चमड़ा कागद की इन सब की कांचन या धन संज्ञा होती है।

लोभ उसे कहते हैं उपभोग की वस्तुओं को अधिकाधिक संग्रह करने की इच्छा। मेरे पास शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और स्पर्श सम्बन्धी जितनी भी वस्तुएँ हैं अधिकाधिक रूप में इकट्ठी हो जायँ। लोभ का कहीं अन्त नहीं। श्रुति कहती है— "संसार के जितने भी खाने पीने या विषयों के उपभोग योग्य पदार्थ हैं उन सब को यदि एक ही व्यक्ति को दे दें तो भी उसकी तृप्ति नहीं हो सकती। लोभ ही समस्त अनर्थों की जड़ है, विषयों के लोभ के कारण ही प्राणी संसार चक्र में फँसता है। लोभ दो प्रकार का है। स्त्री सुख के लोभ को तो 'काम' कहते हैं और द्रव्य के लोभ को 'लोभ' कहते हैं। वैसे समस्त इन्द्रियों के विषय के प्रति जो राग है, आसक्ति है, तृष्णा, अभिलाषा या कामना है उसी की काम संज्ञा है। अतः काम या लोभ दोनों सगे भाई है। काम का एक पुत्र है क्रोध। जब कोई काम वासना में विघ्न डालता है, या उसके चाचा लोभ के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित करता है, तो यह भड़क उठता है। लोभ स्वयं न तो वेगवान है और न स्वयं कुछ करता ही है, वह सामग्रियों को एकत्रित कर देता है। वेगवान् तो काम और क्रोध ही है। वेग उसे कहते हैं, जो अपनी मर्यादा को छोड़कर अमर्यादित होकर चले। साधारण स्थिति में चलने का नाम चाल है। वायु सदा

अपनी मन्थर गति से चलती ही रहती है, जब वह मर्यादा को छोड़कर चले उसे ही आंधी या तीव्र वायु वेग कहते हैं। नदी जब तक मर्यादा मे चलती है, तब तक उसके बहने को प्रवाह कहते हैं। किन्तु जब श्रावण भादों में प्रवाह से ऊपर उठकर दोनों तटों की सीमा का उल्लङ्घन करके वेग से बहने लगती है, तो उसे ही बाढ़ कहते हैं।

जो काम धर्म पूर्वक है, लोक वेद की मर्यादा के अन्तंगत है, वह धर्म काम कहलाता है, जो क्रोध मर्यादित है, धर्मानुकूल है उसे मन्यु कहते है। किन्तु जब ये दोनों मर्यादा का उल्लङ्घन करके लोक वेद के पथ का परित्याग करके मनमानी घर जानी करने लगते हैं, तभी इन दोनों का नाम वेगवान् काम क्रोध हो जाता है। तभी ये दोनों इन्द्रियों से सांठ गांठ करके, व्यापार में प्रवृत्त होते है और जीव को चौरासी के चक्कर मे डाल कर, घुमाते रहते हैं। इन दोनों का वेग ऐसा असह्य और दुर्धर्ष है बड़े से बड़े लोग भी इनके वेग में बह जाते हैं। काई इस बात का अभिमान भूल कर भी न करे, कि मैंने काम को जीत लिया।

एक बड़े ही सुन्दर महात्मा थे, उनका स्वरूप अत्यन्त ही आकर्षक था। एक कामिनो वेश्या उनके रूप पर आसक्त हो गयी। उसने अपने हाव भाव कटाक्षों द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्पित करना चाहा। किन्तु वे महात्मा विचलित नही हुए। इससे वह उनसे चिड़ गयी। वे जब भी भिक्षा लेने उधर से निकलें तभी वह पूछे—"तुम पुरुष हो या स्त्री ?"

महात्मा इसका कुछ भी उत्तर न दें, केवल हंसकर चले जायें। अब उसको यह आदत ही पड़ गयी। महात्मा को देखते ही उसके मुंह से अपने आप निकल पड़े—"तुम पुरुष हो या स्त्री ?" महात्मा ने कभी भो इसका उत्तर नहीं दिया। एक

दिन महात्मा का अन्तिम समय आ गया। वे शरीर का परित्याग करने ही वाले थे, कि उन्होंने एक आदमी से कहा—"अमुक वेश्या को बुला लाओ।"

महात्मा जी की आज्ञा का पालन किया गया। वेश्या आ गयी, उसने आते पूछा—"बाबा जी ! तुम पुरुष हो या स्त्री ?"

महात्मा ने गरजकर कहा—"मैं पुरुष हूँ।"

वेश्या यह सुन कर हँस पड़ी और बोली—आप पुरुष हैं, यह तो मैं जानती ही थी, किन्तु आप इतने दिनों से इसका उत्तर क्यों नहीं दिया ? आज ही आप ने अपने को नर क्यों बताया ?"

महात्मा ने कहा—जो शरीर छूटने के पहिले ही काम के वेग को सहन करने में समर्थ है, वास्तव में वही नर है। जो काम के आकर्षण के सम्मुख आते ही उसके प्रवाह में वह जाय, वह तो कामी नर पशु ही है।

एक दूसरे महात्मा थे, उनकी मूँछें बहुत बड़ी-बड़ी थीं। वे उन्हें मोड़ कर रखते। वे योगी थे।

एक दुर्जन पुरुष था, उसने एक बड़ा अच्छा कुत्ता पाल रखा था, उस कुत्ते की पूछ भी मुड़ी हुई थी। वह पुरुष जब भी आता, तभी पूँछता—"योगी जी ! तुम्हारी मूँछ अच्छी कि मेरे कुत्ते की पूँछ अच्छी ?"

महात्मा यह सुन कर हँस जाते, और कुछ भी उत्तर न देते। उस दुर्जन का अब नित्य का नियम बन गया। जब भी आता पूछता—"योगी जी ! तुम्हारी मूँछ अच्छी या कुत्ते की पूँछ अच्छी ?" महात्मा केवल प्रश्न सुन कर मुस्करा देते।

एक दिन योगी का अन्तिम दिन आ गया। योगी जी बड़े लोक प्रिय तथा प्रसिद्ध थे, उनके अन्तिम समय में सहस्रों नर-

नारी आये सभी उदास थे। उसी समय वह दुर्जन अपने कुत्ते को लिये हुए आ गया और आते ही उसने पूछा—"योगी जी! तुम्हारी मूँछ अच्छी या मेरे कुत्ते की पूँछ अच्छी ?"

तब गरज कर योगी ने कहा—"तुम्हारे कुत्ते की पूँछ से मेरी मूछें ही अच्छी हैं।"

यह सुन कर वह पुरुष हँस पड़ा और हँसते हुए बोला—"योगी जी! आपकी मूछें तो अच्छी हैं ही, किन्तु आपने यह उत्तर आज ही क्यों दिया, इसके पहिले यह उत्तर क्यों नहीं दिया ?"

योगीजी ने कहा—"देखो, भया! आसक्ति रहित होना सदा निःसंग बने रहना यतियों के लिये यही मोक्ष का मार्ग है। संग से आसक्ति से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जो योगी योग में आरूढ़ भी हो जाते हैं, ऐसे योगारूढ़ पुरुष भी संग के कारण नीचे गिर जाते हैं, उनका पतन हो जाता है, योगी से भोगी बन जाते है। अतः जब तक शरीर का पात न हो। तब तक कोई अभिमान न करे कि मैं जितेन्द्रिय योगी हूँ। शरीर के छूटने तक जिसके मन में काम का वेग न उठे उसी की मूछें वास्तव में मूँछ हैं, जो बीच मे ही फिसल गया, उसकी मूँछ तो कुत्ते की पूँछ से भी गई बीती हैं।"

इतना कहकर योगी जी ने अपने यथार्थ योगी होने का परिचय देकर शरीर त्याग कर दिया।

एक दिन एक दिगम्बर महात्मा घोर बन में नदी के किनारे एक पत्थर की चट्टान पर पड़े हुए मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। उसी समय एक राजा वहाँ आ गये। राजा ने देखा यह नंग धड़ंग व्यक्ति एकान्त में अत्यन्त प्रसन्न हुआ सुख से लेटा हुआ है। यह देखकर कुतूहल वश राजा घोड़े से उतर गये उन परमहंसजी

के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके बैठ गये और बोले महात्मा जी ! मैं आप से एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो पूछूं ?

महात्मा जी उठकर बैठ गये और हँसते हुए अत्यंत ही स्नेहमयी वाणी में बोले—"हाँ पूछिये, क्या पूछना चाहते हैं ?"

राजा ने पूछा—"महाराज ! इस संसार में सर्वत्र चिन्ता ही चिन्ता दिखाई देती है। सुख के साधन उतने अधिक नहीं है कि सभी सुखी हो सकें। सुख तो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी विषय पदार्थों से मिलता है। सुन्दर से सुन्दर शब्द सुनने को मिले, सुन्दर से सुन्दर रूप देखने उपभोग करने को मिले। सुन्दर, स्वादिष्ट मनोनुकूल रसीले पदार्थ खाने को मिले, सुन्दर सुगन्धित द्रव्य सूँघने को मिलें। मृदुल सुखद स्पर्श युक्त वस्तुएँ उपभोग के लिये मिलें तभी प्राणी सुख का अनुभव करता है। मैं चक्रवर्ती राजा हूँ, यद्यपि मेरे पास विषय भोग की प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ हैं, किन्तु फिर भी उतना सुखी नहीं हूँ। सदा किसी न किसी बात की चिन्ता व्याप्त ही रहती है, किसी न किसी वस्तु का अभाव मुझे बना ही रहता है। आपको देखता हूँ, कि आपके पास विषय सम्बन्धी एक भी वस्तु नहीं। शरीर पर एक फटा वस्त्र नहीं। पानी पीने को पात्र नहीं, भोजन की कोई सामग्री नहीं। फिर भी आप सदा मुस्कराते ही रहते हैं, चिन्ता की रेखा भी आपके मुख पर नहीं, यह क्या बात है ?"

यह सुनकर परमहंस जी बड़े जोर से खिलखिलाकर हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"राजन् ! आप ने मूल ही भूलकर दी।"

राजा ने पूछा—भगवन् ! मूल में भूल कैसी ?"

परमहंस बोले—"आपने सुख का कारण विषयों में अनुराग ही समझ रखा है, यही मूल में भूल है। देखो, विषयों की अधिकता से कोई सुखी नहीं हो सकता। आप अपने को चक्रवर्ती

राजा बता रहे हो, और स्वयं स्वीकार कर रहे हो, कि मुझे सुख नहीं। आप तो इसी लोक के राजा हैं जो इन्द्र देवताओं के राजा त्रिलोकेश हैं, उनके पास तो दिव्य विषयों की प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ है किन्तु वे देवराज भी सुखी कहाँ हैं? किसी महात्मा को तपस्या में निरत देखते हैं किसी राजा को सौ अश्वमेध यज्ञ करते देखते हैं तो उनके पेट में पानी हो जाता है, अत्यन्त दुखी होकर उसके तप को भंग करने की चिन्ता में मग्न हो जाते हैं। सो, राजन्! राजा को सुख नहीं, महाराजा को सुख नहीं, चक्रवर्ती को सुख नहीं, इन्द्र को भी सुख नहीं। वास्तविक सुखी तो वही है जिसने राग का परित्याग कर दिया है। काम वासना पर जिसने विजय प्राप्त कर ली है। इसलिये वीतराग योगी पुरुष ही यथार्थ सुखी है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी काम और क्रोध की प्रबलता को बताते हुए कह रहे हैं—अर्जुन! यह तृष्णा ही वास्तव में दुःख का कारण है।"

अर्जुन ने पूछा—तृष्णा क्या?

भगवान् ने कहा—यही संसारी विषय भोगों को सुख की इच्छा से भोगने की लालसा।

अर्जुन ने पूछा—"यह तृष्णा शांत कैसे हो?"

भगवान् ने कहा—तृष्णा विषय भोगों के भोगने से शांत नहीं होती, तृष्णा का जब तक परित्याग न किया जाय तब तक यथार्थ सुख मिलना असम्भव है।

अर्जुन ने पूछा—"तृष्णा का त्याग कौन कर सकता है। साधारण लोग तो तृष्णा का परित्याग कर नहीं सकते।"

भगवान् ने कहा—तृष्णा का त्याग क्लीव-नपुंसक नहीं कर

सकते। जो तृष्णा का त्याग करदे वही वास्तव में नर है। वही योग युक्त योगी है और वही सुखी है।

अर्जुन ने पूछा—कितने दिनों में तृष्णा का त्याग संभव है?

भगवान् ने कहा—"इसकी अवधि नहीं। जिन्होंने सहस्र जन्मों तक तप, यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म किये हों, उन निष्पाप निर्मल चित्त वाले पुरुषों के निरन्तर प्रयत्न करने पर शरीर त्याग के पूर्व इस तृष्णा की समाप्ति होती है। जो शरीर छूटने से पूर्व ही इस लोक में हो काम और क्रोध से उत्पन्न प्रबल वेग को सह सकने मे समर्थ हो जाता है वही वीतराग वितृष्ण पुरुष योगी है, वही वास्तविक नर है और वही सच्चा सुखी है। बाह्य विषयों में सुख नहीं है। विषय में जिसे तृष्णा है वह भला सुखी कैसे हो सकता है?"

अर्जुन ने पूछा—जो काम और क्रोध के वेग को जीत लेता है, वह ससार बन्धन से मुक्त हो जाता होगा?

भगवान् ने कहा—नही वह विमुक्त नही हो जाता। मुक्ति मार्ग के पथ की ओर अग्रसर हो जाता है। सुख की ओर चल पड़ता है, उसे काम क्रोध को जीतकर कुछ और भी करना पड़ता है।

अर्जुन ने कहा—उसे और क्या-क्या करना पड़ता है। उसकी जीवन्मुक्तावस्था कब समझी जाती है।

भगवान् ने कहा—सुख स्वरूप तो आत्मा ही है। अनात्म पदार्थों मे रमण करने से, विषयों की अपेक्षा करने से तो दुख ही दुख मिलता है। काम और क्रोध के वेग को सहन करने से उसे सुख तो मिलता है, किन्तु परम सुख अर्थात् ब्रह्म निर्वाण या मुक्ति तो आत्मा में रमण करने से ही मिलती है। जसे संसारी लोग स्त्री पुत्रादिकों में ही रमण करते हैं, उनके साथ क्रीड़ा

करते हैं, वैसे ही मुमुक्षु आत्मा के साथ क्रीड़ा करता रहे। जैसे संसारी लोग विषयों में ही आराम का अनुभव करते हैं, वैसे ही मुमुक्षु आत्मा में ही जब आनन्द का अनुभव करने लगता है। जैसे संसारी लोग बाहर के सूर्य, चन्द्र और अग्नि की ज्योति में ही पदार्थों को देखते हैं वैसे ही मुमुक्षु भीतर की ज्योति के ही प्रकाश से प्रकाश प्राप्त करता है। वह वाह्य विषयों की अपेक्षा से रहित होकर अपने स्वरूप में ही आनन्दानुभव करता है, वह आत्मरमणी, आत्माराम, अन्तर्ज्योति वाला योगी ही ब्रह्मभूत ब्रह्मरूप परमशान्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

उस ब्रह्म प्राप्त जीवन मुक्त पुरुष के और भी लक्षण हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षणों को बताते हुए मुक्ति के हेतुभूत अन्य साधनों का जैसे वर्णन किया है उसे मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

सुख बाहर जो लखैं अभागे पुरुष अज्ञ ते।
आत्मा ई सुखरूप जानि सुख पाइँ विज्ञ ते॥
अन्तरात्मा माहिँ करैं अनुभव सत सुख को।
आत्मा में ई रमन करैं जहँ लेश न दुख को॥
आत्मा में ई ज्ञान लखि, अन्तर ज्योति बनी रहै।
वह योगी निरबान पद, पाइ ब्रह्म में लीन है॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (४)

[१३]

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥*

(श्री भा० गी० ५ अ० २५, २६ श्लोक)

छप्पय

शान्तभाव कूँ पाइ कौन ज्ञानी जग माहीं।
भये पाप जिनि नष्ट नहीं कल्मष तन माहीं॥
जिनिके संशय ज्ञान-ज्योति तैं सब भगि जावैं।
सब प्रानिनि हित निरत रहैं समभाव लखावैं॥
जिनिको निश्चल विजित मन, रहै सदा परमात्म मैं।
शांति भावकूँ पाइँ वे, देखें सबकूँ आत्म में॥

---

* जिनिके कल्मष कट गये हैं, जिनका द्वैधी भाव नष्ट हो गया है, जिनका मन संयम है ऐसे सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत ऋषिगण ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होते हैं॥२५॥

जो काम क्रोध से रहित हैं, जिन्होंने अपने चित्त को वश में कर लिया है, जिन्होंने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे यतियों को सब ओर से ब्रह्म निर्वाण प्राप्त होता है॥२६॥

ब्रह्मनिर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है। जब तुच्छ अनित्य संसारी कार्यों की सिद्धि के ही लिये मनुष्यों को कितना भारी श्रम करना पड़ता है, तो मोक्ष प्राप्त करना तो जीवन का चरम लक्ष्य है। उसके लिये तो अत्यधिक श्रद्धा, संयम, तप, विश्वास तथा अन्यान्य साधनों की आवश्यकता है, मोक्ष प्राप्ति के अनेक साधन हैं। उनमें से कुछ साधनों का यहाँ उल्लेख करते हैं। कौन पुरुष मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है, इस बात को बताते हुए अधिकारी के कुछ गुण बताते हैं।

(१) मोक्ष का अधिकारी वही हो सकता है। जो निष्पाप क्षीण कल्मष बन गया हो।

(२) जिसके सभी संशयों का नाश हो गया हो।

(३) जिसका मन निश्चल भाव में स्थित हो।

(४) जो सभी भूतों के हित में निरत रहते हों।

(५) जिसने काम और क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली हो।

(६) जिसने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली हो।

(७) जिसने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया हो।

हमें जो यह शरीर प्राप्त हुआ है, यह अनेक जन्मों के संचित कर्मों में से कुछ पुण्य-पाप जनित प्रारब्ध कर्मों को लेकर प्राप्त हुआ है। जब तक हमारे अन्तःकरण स्थित कल्मष न कटेंगे जब तक हम मोक्ष के अधिकारी नही हो सकते। पूर्वजन्मकृत पाप ही रोग बनकर कष्ट देते हैं। रोगी पुरुष मरेगा, तो दूसरे जन्म में भी वह रोग उसके साथ जायगा। अतः सबसे पहिले शरीर का नीरोग होना आवश्यक है। तपस्या से जिसका तन क्षीण हो गया है, जिसकी विषय लोलुपता समाप्त हो गयी है, जिसका शरीर तेजयुक्त हो गया है, जिसकी वाणी में मधुरता आ गयी है और

जिसके शरीर की दुर्गन्ध चली गयी है, समझो उसके पाप क्षीण हो गये है और वह मोक्ष का अधिकारी हो गया है। कल्मष या पाप यज्ञ दान और तपस्या आदि से कटते हैं। सबसे बड़ा तप अनशन है और सबसे बड़ो यज्ञ है मन्त्र जाप। श्रद्धा संयम पूर्वक मन्त्र जाप करने से शनैः शनैः समस्त कल्मष कट जाते हैं। एक महात्मा थे उन्होंने गायत्री मंत्र के २४ अनुष्ठान किये, किन्तु गायत्री का साक्षात्कार नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने संन्यास ले लिया तब गायत्री देवी प्रकट हुईं। महात्मा ने पूछा—"देवि! जब मुझे आवश्यकता थी, तब तो आप प्रकट हुई नहीं, अब जब मैंने समस्त आवश्कताओं का परित्याग कर दिया है, तब आप प्रकट हुई। अब मैं आप से क्या माँगू ?"

गायत्रा ने कहा—"स्वामिन्! उस समय आप मे मेरे दर्शनों की पात्रता नहीं आई थी। मैं तुम्हे दिव्य दृष्टि देती हूँ, तुम देखो।"

दिव्य दृष्टि होने पर महात्मा देखते हैं, २४ बड़ी-बड़ी राख की ढेरियाँ जली पड़ी है एक ढेरी अभी जल रही है। गायत्री माता ने बताया—"ब्रह्मन्! पापों की ये २५ ढेरियाँ आपके परमार्थ पथ में अन्तराय थी। २४ ढेरियाँ तो २४ गायत्री के पुरश्चरणों से जल गयीं। पच्चीसवी संन्यास लेने से जल गयी। अब आप निष्कल्मष पाप रहित हो गये। अब आप मेरे साक्षात्कार के अधिकारा बन गये।"

जो लोग वर्ष ६ महीने ही कोई अनुष्ठान करके अपने को सिद्ध मानने लगते है, यह बड़ी भूल है। यह क्षेत्ररूपी शरीर बड़े प्रयत्नों से–चिरकाल तक निरन्तर श्रद्धा संयम पूर्वक साधनों मे लगे ही रहने से तब कहीं जन्मजन्मान्तर में पुरुष निष्पाप निष्कल्मष हो सकता है। अतः मोक्ष के साधक को संयम की

चिन्ता न करनी चाहिये उसे श्रद्धापूर्वक निरन्तर तप, यज्ञ दानादि शुभ कर्मों में लगे ही रहना चाहिये। ऐसा ही यत्नवान् श्रद्धालु साधक मोक्षका अधिकारी बन सकता है।

साधन में संशय होना यह भी बड़ा भारी दोष है। हम जो कर रहे हैं, यह ठीक है या नहीं ऐसा द्वैधी भाव आगे बढ़ने नहीं देता। एक साधक था, वह त्रिकाल सन्ध्या करता था, निरन्तर जप करता रहता था। एक दिन नारदजी उसके पास आये और बोले—"सुनते हो, साधक! तुम्हारा यह साधन भगवान् को स्वीकार नही।"

उसने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"आप कौन हैं, भगवन्! आपको कैसे पता मैं साधन करता हूँ और भगवान् को यह स्वीकार नहीं?"

नारदजी ने कहा—"मै नारद हूँ, अभी-अभी भगवान् के यहाँ से-वैकुण्ठ से-आ रहा हूँ, भगवान् ने मुझसे स्वयं कहा—कि उस साधक का साधन मुझे स्वीकार नहीं।"

यह सुनते ही साधक प्रेम में विह्वल होकर कपड़ा फैलाकर नृत्य करने लगा। नारदजी ने पूछा—"भाई, इसमें प्रसन्नता की कौन-सी बात है, तुम्हें तो दुखित होना चाहिये।

साधक ने कहा—"ब्रह्मन्! आप साक्षात् देवर्षि हैं, आप कभी असत्य भाषण कर ही नहीं सकते। स्वीकार करना न करना यह तो भगवान् को अपनी इच्छा के ऊपर निर्भर है, किन्तु भगवान् को इस बात का पता है, कि मैं साधन कर रहा हूँ यही मेरे लिये बड़ी भारी बात है। भगवान् मेरे सम्बन्ध में जानकारी रखते हैं, इसी से मैं कृतार्थ हो गया। स्वीकारना तो उनकी इच्छा पर है।"

उसकी ऐसी निर्भरता और संशय हीनता से प्रसन्न होकर

भगवान् उसी समय तुरन्त प्रकट हो गये। इसलिये भगवान् पर विश्वास रखते हुए जो अपने सत्य साधन में लगे रहते हैं किसी प्रकार का संशय मन में नहीं लाते वे भी मोक्ष मार्ग के अधिकारी बन जाते हैं।

साधन में मन की निश्चलता भी अत्यावश्यक है। मन इधर-उधर जिसका विचलित हो जाता है वह परम पुरुषार्थ से वंचित होकर विषयों में फँस जाता है, अतः मन को सदा निश्चल भाव से परमात्मा में ही लगाये रहना चाहिये।

एक सबसे भारी परमार्थ पथ के पथिक का लक्षण यह है, कि उसके अन्तःकरण में सदा सर्वदा सम्पूर्ण प्राणियों के हित की ही कामना बनी रहे। धर्मराज युधिष्ठिर को जब नरक के दर्शन कराये गये, तो नारकीय जीवों ने कहा—"आपके शरीर से जो दिव्यगन्ध निकल रही है, इससे हम लोगों को परम सुख मिल रहा है, आप यहाँ से जायें नहीं। धर्मराज ने सोचा—मेरे कारण इतने लोगों का हित साधन हो रहा है, तो मैं यहीं रहूँगा। देवदूत के बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने नरक में ही रहने का निश्चय किया। उनकी इस सर्वभूत हितेरत भावना के कारण उनका पुण्य अक्षय हो गया।

पार्वती ने भी अपनी सम्पूर्ण तपस्या उस बालक के निमित्त समर्पण कर दी थी जिसे मगर खा जाना चाहता था। जब वे पुनः तपस्या करने चलीं, तो शिवजी ने पूछा—"कहाँ जा रही हो।"

पार्वतीजी ने कहा—इस तालाब में एक मगर एक शिशु को खा जाना चाहता था, मुझे उस पर अत्यन्त दया आ गयी। वह मगर किसी प्रकार मानता ही नहीं था। अन्त में इस बात पर वह राजी हुआ कि आप अपनी सम्पूर्ण तपस्या दे दें तो मैं इसे

छोड़ सकता हूँ।" मैंने सम्पूर्ण तपस्या संकल्प करके उस शिशु को छुड़ा लिया। अब मैं तपस्या से हीन हो गयी। पुनः तपस्या अर्जन करने के निमित्त तप करने जा रही हूँ।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् शिव बाले—देवि! वह मगर मैं ही था, तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये मैंने ऐसा किया। उस शिशु पर दया दिखाने से आप की तपस्या क्षीण नहीं हुई वह तो करोड़ों गुनी बढ़कर अक्षय हो गयी। अतः जो समस्त जीवों के हित में लगा रहता है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

एक आचार्य थे। उनके गुरु ने उन्हें मन्त्र दिया और कहा इसका अनुसन्धान करो तुम जन्म, जरा, मृत्यु, भय के दुःख से छूटकर परमानन्द के अधिकारी बन जाओगे। किन्तु देखना इसे किसी दूसरे को मत बताना।

मन्त्र ग्रहण करके आचार्य बड़े प्रसन्न हुए। वे उस मन्त्र की दीक्षा ग्रहण करके आनन्द में भरकर एक विशाल मन्दिर के समीप गये। वहाँ सहस्रों दर्शनार्थी उपस्थित थे। आप मन्दिर के गोपुर के ऊपर चढ़ गये और चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे—"जन्म, जरा, मृत्यु के भय को भगाने वाला परमानन्द को प्राप्त कराने वाला मैं तुम्हें गुप्त मन्त्र सुनाता हूँ। तुम सब लोगों को बुला लाओ।"

यह सुनकर वहाँ सहस्रों नर-नारियों की भीड़ उपस्थित हो गयी। आचार्य ने बिना भेदभाव के मन्त्रराज की व्याख्या की। सबको उसका रहस्य समझाया। अन्य शिष्यों ने जाकर गुरु से कहा—"भगवन्! आपका वह नवीन शिष्य तो मन्त्रराज की व्याख्या गोपुर पर चढ़कर बिना भेदभाव के सबको सुना रहा है।" यह सुनकर गुरु को बड़ा कोध आया। शिष्यों को भेजा, उसे तुरन्त मेरे पास बुला लाओ।

गुरु की आज्ञा पाकर हाथ जोड़े हुए आचार्य उनके सम्मुख उपस्थित हुए। क्रोध में भरकर गुरुजी ने कहा—"क्यों रे मैंने तो तुमसे कहा था, इसका उपदेश सबको मत देना यह परम गोपनीय परम रहस्यमय मन्त्र है। तुमने मेरी आज्ञा का उलंघन किया है ? तुम सबको उपदेश दे रहे थे ?"

आचार्य ने कहा—"हाँ, भगवन् ! दे तो रहा था।

गुरु ने पूछा—तुम जानते हो, गुरु आज्ञा उल्लंघन करने का क्या परिणाम होगा ?

आचार्य ने कहा—"बताने की कृपा कीजिये।"

गुरु ने कहा—"गुरु आज्ञा उल्लंघन करने पर करोड़ों वर्षों तक रौरवादि नरकों की यातना सहनी पड़ती है।"

आचार्य ने पूछा—"मन्त्रराज सुनने से क्या होता है ?"

गुरु ने कहा—"वह तो परम रहस्यमय मन्त्रराज है, उसे जो सुनता है वह जन्म, मृत्यु, जरा दुःखादि से छूटकर परमानन्द का अधिकारी होता है।"

तब आचार्य ने धैर्य के साथ कहा—"तब तो कोई बात नहीं। नरक की यातनायें तो गुरु आज्ञा उल्लंघन करने के कारण अकेले मुझे ही सहनी पड़ेंगी। इन इतने नरनारियों को तो परमानन्द की प्राप्ति हो ही जायगी। इतने लोगों को परमानन्द की प्राप्ति हो, तो मैं अकेला तो सहर्ष नरक यातनाओं को अनन्त काल तक सहता रहूँगा।"

अपने शिष्य की इस सर्वभूत हितेरत भावना को देखकर गुरु का हृदय भर आया, उन्होंने शिष्य का गाढालिंगन करते हुए कहा—सब प्राणियों के हित में तुम्हारी ऐसी उच्च भावना है तो मैं तुम्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि तुम असंख्यों जीवों के

उद्धारक तरन-तारन बनोगे। तुम्हारी कीर्ति संसार में अजर-अमर रहेगी वे आचार्य भगवान् रामानुज स्वामी ही थे।"

इसलिये मोक्ष मार्ग के साधक को सदा सर्वदा सभी प्राणियों के हित के कार्यों में ही लगे रहना चाहिये।

काम और क्रोध ये दो शत्रु ऐसे हैं, कि मोक्ष मार्ग के सबसे बड़े निरोधक बाधक और नाशक हैं। अतः काम-क्रोध को वश में करने और मन को निग्रह करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। जो इन साधनों को करते है उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार होता है, वे प्रकृति की परिधि से ऊँचे उठकर परम पुरुषार्थ की सर्वोच्च सीढ़ी पर चढ़ जाते हैं। ये सभी साधन ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करने वालों को अपनाने चाहिये।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जीवन्मुक्ति के अन्य साधनों को बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—हे कुन्तीनन्दन! जो संसारी विषयों में ही आसक्त हैं, वे मोक्षमार्ग की ओर एक पग भी नहीं बढ़ सकते।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! मोक्षमार्ग की ओर कौन से साधक बढ़ सकते है?"

भगवान् ने कहा—"जिनके साधना द्वारा समस्त पाप क्षीण हो गये हों। जो निष्पाप—क्षीणकल्मष—हो चुके हों।"

अर्जुन ने पूछा—और?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जिनकी बुद्धि सूक्ष्म से अति सूक्ष्म हो गयी हो, जो सूक्ष्म वस्तु को ग्रहण करने में समर्थ हों?"

अर्जुन ने पूछा—और?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जो सर्वसंशय शून्य बन गये हों? जिनके हृदय की ग्रंथि खुल गई हो। जिनके शुभाशुभ कर्म क्षीण हो गये हों।

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जिन्होंने अपने मन को एकाग्र कर लिया हो, जिन्होंने बिखरी हुई चित्तवृत्तियों का निरोध कर लिया हो।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान ने कहा—"और वे लोग जो सदा सर्वदा सभी प्राणियों के हित साधन में संलग्न बने रहते हों। जिनका स्व पर नष्ट हो गया हो, जो सम्पूर्ण वसुधावालों को ही अपना निजी कुटुम्ब समझते हों।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"जिन्होंने काम और क्रोध दोनों बाप बेटा शत्रुओं को अपने वश में कर लिया हो।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग मोक्ष के लिये सतत यत्नवान रहते हों, ऐसे संयत चित्त यतियों द्वारा इस पुण्य पथ का अनुसरण किया जा सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जो जिन्होंने भक्तिभाव द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया हो। जिनको भगवत् साक्षात्कार हो गया, उनके सम्बन्ध में अब कहना ही क्या ? उनको तो कुछ करना शेष रह ही नहीं जाता उनके तो दोनों हाथों में लड्डू हैं। यदि वे जीवित रहते हैं, तो यहाँ परमानन्द सुख का अनुभव करते है, समस्त प्राणियों को सुख पहुँचाते रहते हैं। यदि शरीर त्याग कर देते हैं, तो फिर इस संसार में पुनः नहीं आते, दिव्य सुख का–ब्रह्मनिर्माण का–आनन्द लेते रहते हैं। वे संसारी बन्धनों से सदासर्वदा के लिये विमुक्त बन जाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवान् आपने और तो बहुत से साधन बताये। योगप्राणायाम द्वारा भी ब्रह्म साक्षात्कार होता है, ऐसा मैंने सुना है।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, होता क्यों नहीं अवश्य होता है। उसके सम्बन्ध में भी मैं तुम्हें बताऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब भगवान् प्राण संयम रूप साधन को जैसे अर्जुन के प्रति बतावेंगे उसका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

काम क्रोध तैं रहित जगत हित रत बड़भागी।
विजय चित्त पै करी विषय भोगनिके त्यागी॥
पाइ ब्रह्म निरवान आत्मा में लवलीना।
आत्मानन्द स्वरूप आत्मप्रिय परम प्रवीना॥
ऐसे ज्ञानिनि तैं सतत, विषय जनित दुख दूर है।
चहुँ दिशि ये अनुभव करैं, शान्त ब्रह्म परिपूर्न है॥

प्राणायाम परायण जीवन्मुक्त के लक्षण (५)

(१४)

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥*

(श्रीमा० गी० ५ अ० २७ २८ श्लो०)

छप्पय

जो नहिँ मनतैं करैं बाह्य विषयनि को चितन।
भीतर जो हैं भरे विषय तिनि करि बाहर तन॥
अन्तःकरन विशुद्ध बने तब ध्यान लगावै।
दो भौंहनि के बीच दीठि कूँ सुदृढ़ बनावै॥
चलत रहत नित नासिका, में ये दोऊ प्रान हैं।
प्रान अपानहु नाम तैं, तिनिकूँ करैं समान हैं॥

---

* बाहर के विषय भोगों को बाहर ही रखकर और चक्षु की दृष्टि को भ्रुकुटि के मध्य में स्थिर करके नासिका में विचरण करने वाले प्राण अपान को सम करके ॥२७॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियों को जीतकर, इच्छा भय और क्रोध से रहित होकर जो मोक्ष परायण मुनि है, वह तो सदा-सर्वदा मुक्त ही है ॥२८॥

ब्रह्माजी सृष्टि के आदि में ऐसा एक सर्वाङ्गीण जीव बनाना चाहते थे, जो साधन करके प्रभु को प्राप्त कर सके। जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँच सके, परम पुरुपार्थ की उपलब्धि कर सके, किन्तु वे यह निर्णय न कर सके कि वह जीव कैसा हो। उन्होंने देवताओं की रचना की, किन्तु वह तो भोग योनि है, फिर पशु, पक्षी, भूत, प्रेत पिसाच, सर्प, विच्छू आदि की सृष्टि की, किन्तु ब्रह्मा जी इन सभी को रचकर सन्तुष्ट नहीं हुए। फिर अकस्मात् उन्होंने पुरुप की रचना की जो कर्मों के द्वारा नैष्कर्म्यता को प्राप्त करने में समर्थ है, जो साधनों द्वारा साध्य को प्राप्त कर सकता है। इस नर योनि को बनाकर ब्रह्मा जी अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। उससे पहिले जो देवतादि उत्पन्न हुए उन्होंने भी ब्रह्माजी से यही कहा—"सुकृतंवत ते कृतम्" महाराज! आपने यह 'मनुष्य' नाम का जीव तो बहुत ही सुंदर बनाया। आपकी यह कृति अजर अमर रहेगी और यही परम पुरुपार्थ को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगी।

वास्तव में मनुष्य योनि सर्वाङ्ग योनि है। ब्रह्मा की यह सबसे श्रेष्ठ अन्तिम कृति है। और सब तो भोग योनियाँ हैं। वे सब परमार्थ के लिये स्वतः प्रयत्न करने में समर्थ नहीं। वे तो केवल प्रारब्ध कर्मों के दुख सुख का भोग ही कर सक्ते हैं। आगे के लिये कर्म नहीं कर सक्ते। यहाँ तक कि देव योनि भी भोग योनि है। देवता स्वर्ग में रहकर स्वर्गीय सुखों का तो–जब तक उनके पुण्य शेप है, तब तक–उपभोग कर सकते है। किन्तु यज्ञ, जप, दानादि सुकृत कर्म नहीं कर सकते। इन्द्रादिकों को कभी यज्ञादि पुण्य कर्म करने की इच्छा भी होती है, तो उन्हें यहीं मर्त्यलोक में–भूमि पर आकर ही कर सक्ते है। इसीलिये देवता भी इस मनुष्य योनि को पाने के लिये लालायित बने रहते हैं।

मनुष्य योनि बड़ी दुर्लभ है, वह चौरासी लाख योनियों के

पश्चात् ही प्राप्त होती है। इस मनुष्य योनि को भी पाकर जिसने साधनों द्वारा परम साध्य प्रभु को प्राप्त नहीं किया, उसने तो जीती बाजी को हार के रूप में परिणित कर दिया। इस मनुष्य शरीर को पाकर जिसने संसारी भोग विलास में ही इसे नष्ट कर दिया उसने बहुमूल्य दिव्यमणि को काँच के टुकड़े के बदले बेच दिया। इसलिये मनुष्य शरीर पाकर साधन भजन में ही संलग्न बने रहना चाहिये। मनुष्य का इसीलिये एक नाम साधक भी है।

परमात्मा को प्राप्त करने के विविध साधन हैं, उनमें से प्राणायाम भी एक मुख्य साधन है। प्राणायाम के द्वारा शरीर के भीतर के समस्त मल जलाये जा सकते हैं। तभी साधक निर्मल तथा विगतज्वर-निष्पाप-निष्कल्मष बन सकता है। मनुष्य योनि क्या है, समस्त विश्वब्रह्माण्ड की एक अत्यन्त सूक्ष्म प्रतिकृति मात्र है। जो शरीर में है वही सब विश्व ब्रह्माण्ड में है, जो शरीर में नहीं वह विश्व ब्रह्माण्ड में भी नहीं। इसलिये कहावत है—"जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में भी है।

अब सोचना यह है कि इस शरीर में मल कहाँ से आ गया? यह तो संसार है इसकी स्थिति द्वन्द्व के ऊपर निर्भर है। द्वन्द्व न हो तो संसार भी न हो। पुण्य-पाप, सुकृत-दुष्कृत, अच्छा-बुरा, सुख-दुख, जीवन-मरण इन्हीं का नाम द्वन्द्व है। इन द्वन्द्वों का परस्पर में ऐसा समिश्रण हो गया है, कि हम चाहे कि संसार में से एक ही वस्तु को लें एक को छोड़ दें ऐसा असंभव है। जैसे आप पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों में से चाहें कि हम केवल पृथ्वी ही पृथ्वी या जल ही जल को लें, शेष चार भूतों का स्पर्श ही न करें तो यह असम्भव है। इन पाँचों भूतों का परस्पर में पंचीकरण हो गया है, कोई अपने निजी शुद्ध

रूप में है ही नहीं। पृथ्वी में सौ में से पचास भाग पृथ्वी का है, पचास में जल, तेज, वायु और आकाश इन चारों का मिश्रण है। इसी प्रकार जल में जलीय अंश आधा है आधे में शेष चार भूत हैं। ऐसे ही सब भूतों में समझ लीजिये। हम एक पस जल उठाते हैं, तो समझते हैं,हमने पचभूतों में से केवल जल को ही अजलि में उठाया,किन्तु यह हमारी भूल है। हमारी अंजलि में तो आधा जलीय भाग है और आधे में चारो भूतों का सूक्ष्म भाग है।

ठीक इसी तरह भोजन के जितने पदार्थ हैं उन सबमें पाप और पुण्य सूक्ष्म रूप से व्याप्त हैं। किन्ही पदार्थों में पुण्यांश अधिक है, किन्हीं में पापांश हम जो जीवन के लिये आहार करते हैं, उनके द्वारा प्राणों का पोपण होता है। अर्थात् खाये हुए पदार्थों का प्राणों द्वारा रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र और ओज के रूप में परिणति होती है। इन सबमें भी मल, पाप, कल्मष, अघ या मैल रहता है। हम जो अन्न जल भीतर पेट में ले जाते हैं। उनके उत्तम भाग का तो रस बन जाता है,शेष भाग किट्ट या मल.मूत्र बनकर मूलमूत्र द्वार से निकल जाता है। रस में भी मल रहता है जिसे कच्चा मल या आँव कहते हैं। रस से जो रक्त बनता है उसमें भी मल रहता है इसी प्रकार मांस, मज्जा, अस्थि शुक्र और ओज सबमें मल रहता है। ये मल बहुत सूक्ष्म होते हैं। स्थूल मल तो मल द्वार से निकल जाता है, किन्तु सूक्ष्म मल नाड़ियों में संचित होता रहता है। वह इतना सूक्ष्म होता है, कि उसे किसी साधारण औपधि से किसी साधारण यन्त्र से आप उसे निकाल नही सकते। हमारे शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं। पूरे शरीर में नाड़ियों का जाल बिछा है, वे नाड़ियाँ मलावृत बनी रहती हैं, इसीलिये शरीर को "मलायतनम्" कहा गया है। व्याधियों का घर होने से इसे व्याधि-

मंदिर भी कहते हैं। जब तक शरीर की नाड़ियों में मल है, जब तक देह में व्याधियों का वास है, तब तक परमार्थ साधन संभव नहीं। इन दोषों को निकालकर शरीर को निर्दोष निर्मल बनाकर ही साधन संभव हो सकता है। ये दोष दूर कैसे हों, इसके लिये कहा गया है "प्राणायाम दहेत् दोषान्" प्राणायाम के द्वारा दोषों को जला डालें। योग शास्त्रों में "नाडी शोधन" एक क्रिया है। एक विशेष प्राणायाम द्वारा सभी नाडियों में शुद्ध वायु पहुँचायी जाती है। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ियाँ मल से भर गयीं हैं, अतः उनमें शुद्ध वायु पहुँच नहीं सकती। जब तीव्रगति से विशेष प्राणायाम द्वारा शुद्ध वायु उन नाड़ियों में प्रवेश करेगी, तब उनमें का मल वायु द्वारा आँतो में आ जायगा और वह मल नव छिद्रों द्वारा विशेष, कर मुख और मल द्वार द्वारा वाहर निकलने लगेगा। यह कैसे पता चलेगा कि सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयीं। इसकी मोटी-सी पहिचान यही है कि साधक नाडियो में वायु भरकर जब अपनी शरीर को अधर आकाश मे स्थित करले या वायु में उड़ने की सामर्थ्य प्राप्त करले, तब समझो उसकी सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयीं।

पूर्व जन्म के अशुभ संस्कारों के ही द्वारा जीव दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है, वाह्य विषयों का दास बन जाता है। वासनायें ही इन्द्रियो को अपने-अपने विषयों में लगाकर उनसे उन-उन इन्द्रियों के भोग भुगवाती है। विषयों के उपभोग से मन मलीन हो जाता है। जीव तो वास्तव में शुद्ध है। सिंह के समान बल-शाली और स्वतन्त्र है, किन्तु विषयों के चक्कर में पड़ जाने से अपना सिंहत्व भूलकर ग्रामसिंह-अर्थात् कुत्ता-बन गया है।

इन्द्रियाँ तो सभी बड़ी प्रबल हैं, किन्तु इन इन्द्रियों में उपस्थ और जिह्वा ये दो इन्द्रियाँ अत्यधिक प्रबल हैं। इनको जिसने

अपने वश में कर लिया है, वास्तव में वही निर्मल साधक है।

मथुरा जी से जब वृन्दावन जाते हैं, तो मार्ग में एक शिवजी का मन्दिर पड़ता है। उस मन्दिर में शिवलिंग नही है। मनुष्य के आकार की शिव जी की एक विशाल मूर्ति है। उसमें शिव जी एक हाथ से तो अपनी जिह्वा इन्द्रिय को पकड़े हुए है और दूसरे हाथ से उपस्थेन्द्रिय को पकड़े हैं। एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा ने जब उनके दर्शन किये तो वे आनन्द में भरकर नृत्य करने लगे। उनके साथी ने पूछा—"स्वामी जी! आप को ऐसी कौन सी प्रसन्नता की वस्तु प्राप्त हो गयी, जिसके कारण आप इतने आनंद में विभोर हो गये?"

स्वामी जी ने कहा—"आज मुझे साधन का रहस्य ज्ञात हो गया।"

साथी ने पूछा—"सो, कैसे?"

महात्मा ने कहा—"साधन में ये दो इन्द्रियां ही अत्यन्त बाधक हैं, जो इन दो इन्द्रियों को वश में करके साधन में प्रवृत्त होगा, वहीं सिंह की भांति निर्भय होकर साधन में बढ़ता जायगा। इन दो इन्द्रियों ने ही इस सिंह रूपी जीव को गृहपाल–कुत्ता–बना दिया है "औपस्थ्य जैह्व कार्पण्यात् गृह पालायते जनाः" कृपण उसे कहते हैं, जो फल भोगने की इच्छा रखकर कर्म करे। "कृपणा फल हेतवः" इन दो इन्द्रियों के उपभोग ने ही प्राणी को साधनहीन पंगु बना रखा है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम कहलाते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये नियम कहलाते हैं। उपस्थ और जिह्वा के संयम से यम नियमों का अपने आप पालन होता है।

अब साधक साधन में प्रवृत्त होगा, तो उसे किसी सुनियोजित

आसन से बैठना होगा, अतः शास्त्रीय आसनों से बैठने का अभ्यास करे। जब सुस्थिर आसन से बैठ जाय, तो प्राणयाम का अभ्यास करे। पहिल तो जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जन्य वाह्य विषय हैं इन्हें तो बाहर ही रहने दे। फिर प्राणायाम का अभ्यास करे। वही प्राणायाम साधन करने वाला योगी साधक कहलाता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! अब भगवान् अर्जुन से उस जीवन्मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में बताते हुए कहते हैं, जिसने प्राणायाम के द्वारा अपने अन्तःकरण को वश में कर लिया है।

भगवान् कहते है—"अर्जुन ! एक मननशील मुनि होते हैं। वे वाह्य कर्मों को महत्व नहीं देते वे तो मन के द्वारा विचार से ही आत्म साक्षात्कार करके जीवन्मुक्त हो जाते हैं, अर्थात् वे सदा सर्वदा मुक्ति के ही आनन्द का आस्वादन करते रहते है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! वे मुनि क्या साधन करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"वे मुनि शब्दादि वाह्य विषयों को तो बाहर ही रहने देते हैं—अर्थात् उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते।"

अर्जुन ने पूछा—"वे ध्यान जमाते कहाँ हैं ?"

भगवान् ने कहा—दोनों नेत्रों के ऊपर जो दोनों भौंयें हैं, उन दोनों भौहों के ठीक बीच में अपनी दृष्टि को एकाग्र करके मन को वहीं अटकाये रखते हैं। क्योंकि मन को तो कोई आश्रय चाहिये। नासिका में जो प्राण अपान नाम की वायु है, उसे समान करके, अपनी समस्त इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को वश में करके ध्यान मग्न हो जाते हैं। उन्हें ध्यान में ऐसा आनन्द आता है, कि उनके धारणा ध्येय में तदाकार होने से वे समाधि सुख का आस्वादन करते रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—इससे होता क्या है ?

भगवान् ने कहा—होता क्या है, सब कुछ हो जाता है। ध्यान की परिपक्वावस्था हो जाने पर संसारी भोगों की समस्त इच्छायें समाप्त हो जाती है। इस प्राणी को जो सर्वत्र मृत्यु का भय बना रहता है। जिस भय के कारण यह सदा सर्वदा शंकित तथा भयभीत बना रहता है, वह भय सर्वथा भग जाता है, साधक निर्भय बन जाता है। जब सब काम वासनायें ही समाप्त हो गयीं तो फिर उसे क्रोध करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। क्रोध करे भी तो किस पर करे और क्यों करे, जब सब में अपनी आत्मा ही दिखाई देने लगती है। ऐसा काम क्रोध से विमुक्त जितेन्द्रिय पुरुष तो सदा सर्वदा मुक्त ही है। उसका चाहे शरीर बना रहे अथवा नष्ट हो जाय, इस विषय में वह कभी सोचता ही नहीं। ऐसा योग साधन में तत्पर हुआ योगी जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! बहुत से योगी ऐसे होते हैं, जो अपने को जीवन्मुक्त भी बताते हैं किन्तु आप परमात्मा का ध्यान नहीं करते। केवल श्वासों का ही व्यायाम करते रहते है, और कहते हैं ईश्वर की क्या आवश्यकता है, ऐसे लोग परिश्रम तो बहुत करते हैं। षटक्रिया में निरत रहते हैं, उन्हें योग की सिद्धियां भी प्राप्त हो जाती है। आकाश में गमन की भी शक्ति हो जाती है, किन्तु फिर भी हमने ऐसे लोगों का पतन भी होते देखा है, यह क्या बात है, इतने ऊंचे उठकर परमपद के समीप पहुँचकर तो उनका पतन नहीं होना चाहिये।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अर्जुन ! वास्तव में वे लोग विमुक्त नहीं हुए हैं वे विमुक्त मानी है। साधनों का फल तो होना ही चाहिये। अणिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्त, प्राकाम्य आदि सिद्धियां उन्हें साधनों के द्वारा प्राप्त अवश्य हो जाती हैं, किन्तु

उन्होंने मूल आधार को तो पकड़ा ही नहीं। उन्होंने मेरे चरण कमलों का तो आश्रय लिया ही नहीं। मेरे प्रति उन लोगों ने सद्भावना नहीं रखी। इसी से उनका पतन देखा गया है।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन्। साधक को आप में कैसा भाव रखना चाहिये?

सूतजी कहते हैं—मुनियो। जब अर्जुन ने भगवान् से भाव के सम्बन्ध में पूछा, तब उन्होंने इसका जो उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

पुनि इन्द्रिनि वश करै विषय नहिँ भागन देवै।
मनकूँ करि एकाम जीति निज बुद्धिहिँ लेवै॥
मोक्षपरायन मुही कहावै मुनि विज्ञानी।
इन्द्रिय भीतर और बाहरी वश करि ज्ञानी॥
इच्छा द्वेष विहीन वह, क्रोध और भयतैं रहित।
ता योगी कूँ वेदवित, नित्ययुक्त ज्ञानी कहत॥

भगवान् को सुहृद् समझने पर शान्ति मिलती है

[१५]

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

जो हैं ज्ञानी भक्त मोइ यदि सरबसु मानें ।
तप अरु यज्ञ अनेक मोइ तिनि भोक्ता जानें ॥
सब लोकनि के ईश सबहिँ लोकनि में न्यारे ।
तिनि सब कोई एक मोइ वह ईश विचारे ॥
सब भूतनि को मोइ यदि, समुझै सच्चो सुहृद जो ।
स्वार्थ रहित साधक सतत, पावै सच्ची शान्ति सो ॥

बिना ईश्वर को माने हुए भी साधनों द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, किन्तु वे सिद्धियाँ अधिक टिकाऊ नहीं होतीं। क्योंकि कर्मों की कोई दृढ़ता नहीं। कर्म तो प्रभु-प्रीत्यर्थ किये

---

* हे अर्जुन ! तुम जब मुझे ही यज्ञ और तप का भोक्ता सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर और सम्पूर्ण प्राणियों का एकमात्र सुहृद् समझ लोगे, तभी शान्ति को प्राप्त कर लोगे ॥२९॥

जायें तभी वे गुणकारी हो सकते हैं। अनासक्ति और भगवत्-विश्वास इन दो आधारों को लेकर जो साधन किये जायंगे, वे ही परमतत्त्व परमार्थ तक पहुँचाने में समर्थ होंगे। कर्मों द्वारा आप कहीं तक पहुँच जायं वहीं से पतन की सम्भावना है। विदर्भ देश के राजा श्वेत ने अस्सी हजार वर्षों तक घोर तपस्या की, उस तपस्या रूपी पुण्य कर्म के प्रभाव से वे सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक या सत्यलोक तक पहुँच गये। जहाँ न क्षुधा है न पिपासा न वहाँ जरा है न मृत्यु। फिर भी राजा को वहाँ भूख लगने लगी। उसके पूछने पर ब्रह्माजी ने कहा—"जिसने पृथ्वी पर अन्न दान किया होगा उसी को भूख नहीं लगती। तुमने अन्नदान न करके इस शरीर का ही पालन पोषण किया है, वही अमर बना दिया है उसे ही तुम खाओ। १०० वर्ष पश्चात् महर्षि अगस्त्य की कृपा से तुम्हारा उद्धार हो सकेगा।"

सो, केवल कर्मों द्वारा परमसिद्धि प्राप्त करना बहुत कठिन है। संसारी सिद्धियाँ, आकाश में उड़ना, लोक लोकान्तरों में जाना, अनेकों रूप बना लेना, ईशत्व, वशित्व प्राप्त करना ये सब तो सम्भव हैं। किन्तु इन्हें प्राप्त करके तनिक सी भूल के कारण पतन हो जाता है।

मगध के राजा के राज्य में एक योगी रहते थे। उनकी सिद्धि की चारों ओर ख्याति थी राजा भी उनकी प्रशंसा सुन कर उनके समीप गया। उनकी पूजा करके प्रार्थना की। दास के महल को भी अपनी चरण-रज से कृतार्थ करें। राजा की प्रार्थना योगी ने स्वीकार करली। वे आकाश-मार्ग से उड़कर राजा के महल में गये। राजा ने उनका रानियों सहित बड़ा स्वागत-सत्कार किया। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन कराया और प्रार्थना की। इसी प्रकार नित्य दास का आतिथ्य ग्रहण किया करें।

अब तो योगी का नित्य का नियम हो गया। नित्य नियम पूर्वक आकाश मार्ग से उड़कर महल में आते, भोजन करके आकाश मार्ग से ही अपनी कुटी पर लौट आते। राजा के साथ भोजन कराने में एक अत्यन्त ही रूप-लावण्य सम्पन्ना युवती सुन्दरी दासी सहयोग देती। राजा को एक दिन बाहर जाना था, उसने प्रार्थना की—"महाराज ! मुझे किसी बहुत ही आवश्यक कार्य से कुछ दिनों के लिये बाहर जाना है। जब तक मैं न आऊँ यह दासी आपकी सेवा किया करेगी।"

योगी ने इसे स्वीकार किया। राजा की उपस्थिति में तो कोई बात नहीं थी, जब योगी और वह सुन्दरी एकान्त में हुए, तो योगी के मन में विकार उत्पन्न हुआ। उन्होंने कोई शारीरिक क्रिया नहीं की, किन्तु मन में विकार आते ही उनके उड़ने की सिद्धि नष्ट हो गयी। कई बार प्रयत्न करने पर भी जब वे न उड़ सके, तो उन्होंने दम्भ का आश्रय लिया।

बोले—सुन्दरी ! ये प्रजा के लोग मेरे दर्शनों को सदा लालायित बने रहते हैं। आज मेरी इच्छा है, मैं आकाश मार्ग से न जाकर पैदल ही सबको दर्शन देता हुआ जाऊँ।" यह कह कर पैदल ही गये। उनकी आकाश में उड़ने की शक्ति कामिनी की आसक्ति के कारण सदा के लिये नष्ट हो गयी। "आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः संगेन योगी, किमुताल्पबुद्धिः" आसक्ति से योगी लोगों का भी अधः पतन हो जाता है, फिर साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या ?

यदि भगवान् का आश्रय लेकर साधन किया जाय, तो वह साधन साधार होता है, भगवान् उसमें सहायता करते हैं। श्रद्धा का अवलम्ब बहुत बड़ा अवलम्ब है। भगवान् के प्रति प्रेम हो और फिर साधन किये जायं, तो उस भगवत्-प्रेम के प्रभाव से ही

साधन के समस्त विघ्न अपने आप दूर हो जायेंगे तथा परम शांति की प्राप्ति हो जायगी।

भगवान् तो नित्य हैं, शाश्वत हैं, सनातन हैं उनके प्रति की हुई श्रद्धा भक्ति तथा प्रेम तो अमरत्व प्रदान करता ही है, यदि सच्चा प्रेम संसार में भी किया जाय, तो वह भी अमरता प्रदान करने में समर्थ होता है।

एक महात्मा थे। एक बार घूमते फिरते वे एक नदी के किनारे आये। उन्होंने प्रेम से भगवान् का नाम लिया। लेते ही नदी के कच्छ-मच्छ मगर नाके सभी इकट्ठे हुए और महात्मा के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने लगे। महात्माजी उन्हें उपदेश देने लगे, वे सब प्रेमपूर्वक महात्मा के उपदेशों को सुनते रहे।

वहीं पास में जंगल में एक भोला-भाला संस्कारी चरवाहा अपने पशुओं को चरा रहा था, जब उसने महात्मा का ऐसा चमत्कार देखा, तो वह आश्चर्य-चकित रह गया। महात्मा जी के प्रति उसकी स्वाभाविक भक्ति उत्पन्न हो गयी। वह महात्माजी के समीप गया और हाथ जोड़कर बोला—"महात्माजी! मैं पवित्र जीवन बिताना चाहता हूँ, इसका मुझे कोई उपाय बतादें। जिससे मेरे कहने पर भी इसी प्रकार जीव जन्तु आ सकें।"

महात्माजी ने पूछा—"तुमने किसी से प्रेम किया है?"

थोड़ी देर चुप रहने के अनन्तर सोचकर उसने कहा—"अभी तक प्रेम तो किसी से किया नहीं।"

महात्मा ने कहा—"तो पहिले कहीं जाकर किसी से प्रेम करो, प्रेम की शिक्षा लेकर तब मेरे पास आना।" इतना सुनते ही वह श्रद्धा विश्वास के साथ वहाँ से प्रेम की शिक्षा लेने चल पड़ा।

अब वह जो मिले, उसी से कहे—"मुझे प्रेम करना सिखा दो।"

सब लोग उसे पागल समझ कर हंस देते। वह आगे बढ़ जाता। एक दिन वह एक गाँव में पहुँचा वहाँ उसे एक बुढ़िया मिली। उसने बुढ़िया से कहा—"माँ! मुझे प्रेम करना सिखा दो।"

बुढ़िया ने कहा—"बेटा! मैं प्रेम क्या जानूँ। प्रेम तो राजाओं के यहाँ होता है, तुम राजमहल में चले जाओ सम्भव है, वहाँ तुम्हें कोई प्रेम सिखाने वाला मिल जाय।"

वह प्रेम का इच्छुक सीधा राजमहल में चला गया। उसे देखते ही रानी तथा राजकुमारियाँ कहने लगीं। यह कहाँ से आ गया? तू यहाँ कैसे चला आया। उसने दीनता से कहा—"मैं प्रेम सीखने के लिये भटक रहा हूँ, एक बुढ़िया ने कहा है, राजमहल में तुम्हें प्रेम सिखाने वाली मिल जायेंगी, इसीलिये मैं यहाँ चला आया हूँ।"

यह सुनकर सभी ठहाका मारकर हँसने लगीं। उनमें एक राजकुमारी बड़ी बुद्धिमती थी, उसने कहा—"मैं तुम्हें प्रेम करना सिखा दूँगी। मेरी बात मानोगे?"

चरवाहे ने कहा—"अवश्य मानूँगा।"

राजकुमारी ने पूछा—"मैं जो कहूँगी उसे करोगे?"

चरवाहे ने कहा—"अवश्य करूँगा।"

राजकुमारी ने कहा—"अच्छा, तो यहाँ कुछ दिन मेरे पास रहो।" यह सुनकर वह वहाँ रहने लगा।"

एक दिन राजकुमारी ने कहा—"प्रेम की सिखायी कुछ दोगे?"

उसने कहा—"मेरे पास जो भी कुछ है, मै सब कुछ देने को तत्पर हूँ।"

राजकुमारी ने कहा—पीछे नटोगे तो नहीं?

उसने कहा—"कभी नहीं।"

राजकुमारी ने कहा—"अच्छा, तुम यहाँ मेरे समीप सो जाओ। देखो, इस छूरे से मै तुम्हारे प्राण लूंगी।"

उसने कहा—"बड़ी प्रसन्नता से ले लीजिये।" और वह अटल विश्वास के साथ सो गया। राजकुमारी ने सचमुच उसके हृदय में छुरी भोंक कर उसकी हत्या करदी। और अपनी दासी से कहा—"इसे एक गड्ढे में डाल कर ऊपर से मिट्टी डाल आओ।"

दासी उसे ले गयी, एक गड्ढे में डाल आई। उसने उसकी जांघ में से थोडा सा मांस का टुकड़ा निकाल लिया और एक कसाई के यहाँ जाकर बोली—"यह एक मोटे भेडा का मांस है, मुझे भेड़े का मांस अच्छा नहीं लगता, उसके बदले में इतना ही बकरे का मांस दे दो।"

उसने तराजू में रख कर उसके बराबर बकरे का मांस दे दिया। दासी उसे लेकर ज्यों ही बाहर हुई त्यों ही एक सभ्य पुरुष मांस लेने आ गये। उसने कहा—"इस तराजू के मांस को मुझे दे दो।"

कसाई ने दाम लेकर वह मांस उसे दे दिया। उसकी गृहिणी ने मांस के टुकड़े करके उन्हें उबाला। भाफ लगने से उसका हाथ जल गया और वह चिल्लाने लगी। तब बटलोई में से आवाज आई कि प्रेमी तो छुरी देखकर भी नहीं चिल्लाया, तुम तनिक सी भाफ से ही चिल्लाने लगी।"

निर्जीव बटलोई में से ऐसी वाणी सुनकर गृहिणी बहुत डरी। उसने समझा कोई भूत प्रेत बटलोई में बैठ गया है। उसने घर वालों से कहा। बात की बात में वहाँ भीड़ लग गई। सभी आश्चर्य से इस अनहोनी बात को देखते और चकरा जाते। बात

बढ़ते-बढ़ते राजा के कानों तक पहुँची। कुतूहल वश राजा भी वहाँ स्वयं आये। उन्होंने अपने कानों से बटलोई में से प्रेम की ये बातें सुनीं।

राजा ने भद्र पुरुष से पूछा—"तुम यह मांस कहाँ से लाये ?"

भद्र पुरुष ने कहा—"अन्नदाता ! मैं तो इसे आज ही अमुक वधिक के यहाँ से क्रय करके लाया हूँ।"

राजा उसे साथ लेकर वधिक के समीप गये। उससे उन्होंने पूछा—"तुमने यह मांस किस पशु को काट कर पाया ?"

वधिक ने कहा—"महाराज ! मुझे तो राजमहल की दासी देकर इसके बदले में बकरे का मांस ले गई है।"

राजा कसाई को लेकर महल में आये। सब दासियों को एकत्रित करके वधिक से पूछा—"इनमें से कौन सी दासी तुम्हें मांस दे आई थी ?"

वधिक ने पहिचान कर दासी को बता दिया। राजा ने उससे पूछा—"तुम्हें यह मांस कहाँ मिला ?"

दासी ने कहा—"मुझे तो राजकुमारी ने एक मनुष्य को मारकर गड्ढे में दबाने को कहा था, उसी का थोड़ा मांस काटकर मैं ले गयी थी, उसी के बदले बकरे का मांस लाई।"

राजा दासी को लेकर स्वयं उस गड्ढे में गये। उसके मृतक शरीर को निकाला। जहाँ से मांस काटा गया था, उस स्थान पर वे मांस के टुकड़े यथास्थान जमाये। और राजपुत्री से बोले—"तुम शनैः शनैः इसके सम्पूर्ण शरीर पर हाथ फिराओ और इसके ओठों को अपने ओठों से चूमो।"

राजा की आज्ञा पाकर राजकुमारी ने ऐसा ही किया। सबके देखते-देखते वह चरवाहा जीवित उठ बैठा।

राजा ने पूछा—तुम राज महल में कैसे आये ?

उसने कहा—"अन्नदाता ! मैं प्रेम की शिक्षा लेने आया था।"

राजा ने पूछा—तो अब तुम प्रेम करना सीख गये ?

उसने कहा—"हाँ महाराज ! सीख गया, किन्तु प्रेम का मूल्य बहुत अधिक है।"

राजा ने पूछा—प्रेम का मूल्य क्या है ?

चरवाहे ने कहा—"प्रेम का मूल्य श्रद्धा और विश्वास है।"

यह तो घर है प्रेम को, खाला को घर नाहिं।
शीश उतारे भुइँ धरे, तब पैठे घर माहिं॥

जो अपना सर्वस्व समर्पण करने को तत्पर होगा, वही प्रेम के घर में प्रवेश कर सकेगा। जिसे अपना सुहृद् समझे उसको अपना सर्वस्व सौंप दे। उस पर पूर्ण विश्वास करे कि यह मेरा सदा कल्याण ही करेगा। मेरे साथ कभी अन्याय न करेगा। सदा मेरी मंगल कामना करेगा। तभी उसे परम शांति होगी।"

जब यह चरवाहा उन महात्मा के समीप प्रेम की शिक्षा लेकर गया, तो सब सुनकर महात्मा बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने इसे अपना शिष्य बना लिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! दृढ़ विश्वास ही एक ऐसी महान् शक्ति है, जो सभी साधनों को सुन्दर मधुर बना देती है। इसी का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे है—"अर्जुन ! जब साधक को इस बात का दृढ़ निश्चय हो जाता है, कि हम चाहे, कितने भी यज्ञ करें, कैसे भी घोर से घोर उग्र से उग्र तप करें उन समस्त यज्ञ और तपों का भोक्ता मै वासुदेव ही हूँ। मैं वासुदेव ही इन्द्रलोक, वरुणलोक, यमलोक, कुबेरलोक, चन्द्रलोक तथा समस्त लोकों के ईशों का भी ईश हूँ, मै ही ईश्वरां का ईश्वर महेश्वर हूँ। तथा संसार के समस्त प्राणियों का एक मात्र सुहृद

हूँ। बस इतना ज्ञान हो जाने पर, ऐसा दृढ़ निश्चय होने पर साधक को परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! यह प्राणायाम योग तो आपने बहुत ही संक्षेप में सुनाया। मैं इसे विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूँ।

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! यह बड़ा ही गूढ़ तथा महान् विषय है, फिर मैं तुम्हें कुछ विस्तार पूर्वक आगे-छटे अध्याय में-सुनाऊँगा। तुम इसे सावधानी से सुनो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह संक्षेप में कर्म और संन्यास का निरूपण भगवान् ने किया। कर्म करते हुए भी संन्यास कैसे हो सकता है, यह विषय बताया, इस पंचम अध्याय को कहीं "कर्म संन्यास योग" कहीं केवल "सन्यास योग" कहीं "स्वरूप परिज्ञान योग" नाम से कहा गया है अब छटे अध्याय में भगवान् ने जैसे "आत्मसंयम योग" का वर्णन किया है, उसे मैं आगे आपसे कहूँगा।

छप्पय

सर्वात्मा सुखसदन सर्वगत मोकूँ मानें।
करि मो पै विश्वास हितैषी अपनो जानें॥
सुहृद-सुहृद के संग कपट कबहूँ न करैगो।
खोलि कुपथ तें तुरत सुपथ में लाइ धरैगो॥
जो मोकूँ सच्चो सुहृद, धरि निज हिय अपनाइगो।
तो निश्चय साधक सरल, परम शांति कूँ पाइगो॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत् गीता उपनिषद जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप में है; उसमे "कर्म संन्यास योग" नाम का पंचम अध्याय